देती। नाना प्रकार की भाषाएं त्राण नहीं बनती। मैं सस्कृत जानता हू, हिन्दी
जानता हू, प्राकृत जानता हूं, अंग्रेजी जानता हू, फ्रेंच जानता हू—इस प्रकार
भाषाओं का अहं बढ़ता है। भाषा बोलने का माध्यम है, विचार को व्यक्त करने
का माध्यम है, वह हमारे अहंकार का माध्यम बन जाती है।

स्वामी रामतीर्थ अमेरिका गए। अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष उनसे मिलने
आए। आते ही उन्होंने पूछा—'स्वामीजी ! आप अपने को बादशाह कहते हैं, यह
कैसे ? आप के पास तो कुछ भी नही है। जो कुछ है वह थोड़ा ही है। फिर आप
बादशाह कैसे हुए, यह समझ में नही आता।' रामतीर्थ ने कहा—'मेरे पास कुछ
नहीं है इसीलिए तो मैं बादशाह हू। जो पकड़ता है वह गरीब होता है। जो गरीब
होता है वह सब चीजों को बटोरना चाहता है, इकट्ठा करना चाहता है। मैं
गरीब नही हू, बादशाह हूं। मुझे किसी की जरूरत नहीं। सारी दुनिया मेरी है।
मैं क्या बटोरू, कहां से बटोरू और किसको बटोरू ? समूची दुनिया ही मेरी है।
गरीब बटोरने का प्रयत्न करता है। आप सब बटोरने वाले हैं, गरीब हैं, दरिद्र
हैं। सच्चा बादशाह तो मैं हू, जो कुछ भी नही बटोरता। मेरे पास कुछ भी नहीं
है, इसीलिए मैं बादशाह हू।'

सचमुच बात बहुत ही मर्म की थी। उस मर्म ने राष्ट्राध्यक्ष के हृदय को बींध
डाला। सन्यासी को भी सतोष मिला कि एक अकिंचन व्यक्ति की बात काम
कर गई। वे भारत लौटे। उन्होंने सोचा—मैंने जो कुछ कहा, जो कुछ अनुभव
किया, भारत के लोगों को भी बताऊं। भारत में उन्होंने काशी को चुना, क्योंकि
काशी पंडितों की नगरी है। पंडित उस बात को अधिक समझ सकेंगे, उसको
अधिक मूल्य देंगे। वे काशी पहुंचे। सभा आयोजित हुई। काफी लोग आए। बड़े-
बड़े पंडित, दिग्गज विद्वान् आए। रामतीर्थ ने सस्मरण सुनाए। सस्मरण सुनने
के बाद एक विद्वान उठा और बोला—'महाराज ! आप सस्कृत जानते है ?'
रामतीर्थ ने कहा—'मैं सस्कृत नहीं जानता।' पंडित बोला—'तो फिर आप ज्ञान
की क्या बात करते है ? जो सस्कृत नहीं जानता, वह ब्रह्मज्ञान को क्या समझेगा?
वह ब्रह्मज्ञान की बात क्या करेगा ? कैसे करेगा ? उसे अधिकार ही नहीं है कि
वह ब्रह्मज्ञान की बात करे।'

बात सारी समाप्त हो गई, मानो सस्कृत ने ही ब्रह्मज्ञान पर अधिकार कर
लिया है। ब्रह्मज्ञान पर भाषा का ही अधिकार है। जो ब्रह्मज्ञान आत्मा की निर्मलता,
आत्मा की पवित्रता और आत्मा की विशुद्धि से प्रसूत होता है, जो ब्रह्मज्ञान
अन्त:करण की पवित्रता से उत्पन्न होता है, उसे भाषा में कैद कर लिया, यह
कितनी बड़ी विडम्बना है। जो सस्कृत जानता है वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है।
जो सस्कृत नहीं जानता, उसे ब्रह्मज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अन्तर ज्ञान
को, आत्मा से सहज उत्पन्न होने वाले ज्ञान को भाषा में बांधकर हमने अपने अह

'पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं'—धर्म के परम अर्थ को जानना है, तत्त्व के निश्चय को जानना है, तो प्रज्ञा के द्वारा उसकी समीक्षा करो, प्रज्ञा के द्वारा देखो, उसके भीतर को देखो, बाहर के रूप को मत देखो। 'पन्ना समिक्खए'—प्रज्ञा के द्वारा गहरे में उतरकर देखो। उसकी अतल गहराई में जाकर देखो। तब तुम जान पाओगे कि परम धर्म क्या है? यह वेशभूषा का अलगाव या चार-पांच महाव्रतों की भिन्नता, संख्या का परिवर्तन धर्म नहीं है। धर्म इनमें नहीं मिलेगा। प्रज्ञा द्वारा गहरे में उतरो और देखो। धर्म वहां मिलेगा। उसमें कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होगी। सब एक ही प्रतीत होगा।

जिसकी हम आज चर्चा कर रहे हैं, वह प्रेक्षा ध्यान क्या है? प्रेक्षा ध्यान है गहरे में उतरकर देखना। जब तक गहराई में नहीं उतरा जाता, सत्य को नहीं देखा जा सकता। हम सत्य को देखना चाहते हैं। हम सत्य को जानना चाहते हैं। उसे देखने-जानने के दो माध्यम हैं—एक विचार और दूसरा दर्शन—देखना। हम विचार से बहुत परिचित हैं, किंतु दर्शन से अभी परिचित नहीं हैं, देखने से अभी परिचित नहीं हैं। विचार का धरातल नीचा रह जाता है, दर्शन का धरातल उससे बहुत ऊपर चला जाता है। दर्शन में जो शक्ति है वह विचार में नहीं है। जहां तक दर्शन पहुंच सकता है, वहां तक विचार नहीं पहुंच सकता। विचार की पहुंच बहुत सीमित रह जाती है। दर्शन की पहुंच बहुत आगे चली जाती है। जहां दर्शन होता है, वहां विचार समाप्त हो जाता है। विचारों को समाप्त करने का सबसे बड़ा साधन है—दर्शन। आप जब दर्शन की भूमिका में प्रवेश करते हैं, देखना शुरू करते हैं, तब विचार अपने आप बंद हो जाते हैं, आप बहुत बार सोचते हैं कि विचारों का तांता कैसे टूटे? विचारों का प्रवाह कैसे बंद हो? एक के बाद एक आने वाले विचारों को कैसे रोका जाय? विचारों को ऐसे नहीं रोका जा सकता। उन्हें रोका जा सकता है—दर्शन के द्वारा, देखने के द्वारा। आप देखने का अभ्यास करें। जैसे ही आप देखने लगेंगे, दर्शन होने लगेगा, विचार बंद हो जाएंगे। दो साथ में नहीं चल सकते। या तो दर्शन चलेगा या विचार चलेगा। दर्शन है तो विचार नहीं होगा और विचार होगा तो दर्शन नहीं होगा। दोनों दो दिशागामी पथिक हैं। दोनों की दो भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं। दोनों साथ नहीं चल सकते। एक ही रहेगा। आप जिसको चाहें, उसको पकड़ें। रहेगा एक ही। या तो दर्शन रहेगा [illegible]

किसी भी वस्तु को देखा जा सकता है। जहां देखना है, वहां यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि किसको देखना है और किसको नहीं देखना है। किसी भी वस्तु को देखा जा सकता है, देख सकते हैं।

आकार को देखें। यह सबसे सीधा दर्शन है। कोई भी आकार सामने आया और हमने उसे देखना प्रारंभ कर दिया। आकार का दर्शन करने लग गए। हर आकृति, जो सामने आयी, उसके बाहरी रूपको देखने लग गए। हर आकृति के दो रूप होते हैं—एक बाहरी और दूसरा भीतरी। एक उसका बाहर का रूप और दूसरा उसका आन्तरिक रूप, अन्दर का रूप। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसका बाहर का रूप तो हो और अन्दर का रूप न हो। अथवा अन्दर का रूप हो और बाहर का रूप न हो। दोनों होते हैं। जहां रस होता है, वहां छिलका भी होता है। जहां छिलका होता है, वहां रस भी होता है। हम छिलके को भी देखें और रस को भी देखें। हम गूदे को भी देखें और छिलके को भी देखें। बाहर और भीतर—दोनों को देखें। पहले बाहर को देखें, फिर भीतर को देखें। पहले स्थूल को देखें, फिर सूक्ष्म को देखें।

पहले दर्शन में जो हमारे सामने आता है वह है स्थूल रूप। किन्तु जो पहले दर्शन में आता है उतना ही वह नहीं, उसके भीतर भी बहुत है। सूक्ष्म को भी देखें। मेरे हाथ में पेंसिल है। आप इसके स्थूल रूप को देख रहे हैं। आप इसे गहराई से देखते चले जाएं। एक मिनट, दो मिनट, पांच मिनट—देखते ही चले जाएं। देखते-देखते वह स्थूल रूप नष्ट होता-सा लगेगा और उसका भीतरी रूप, सूक्ष्म रूप हमारे सामने आने लगेगा। आप देखते चलें, देखते चलें, देखते चलें। गहराई में उतरें। इतने नये-नये पर्याय उस वस्तु के सामने आयेंगे कि आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे।

आज मैं पेंसिल के आकार को देख रहा था। उसकी आकृति पर एकाग्र हो गया। पहले इसके एक रूप को देखा, केवल स्थूल आकार दिखा। दूसरी बार दृष्टि गई तो रंग दिखा, तीसरी बार सूक्ष्म अक्षर दिखे। वे पहली बार में नहीं दिख सके थे। अब बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखने लगे। पेंसिल एक छोटी-सी वस्तु है, अपने-आप में अनन्त पर्यायों को समेटे हुए। एक बार के दर्शन से वे अनन्त पर्याय हमारे सामने प्रकट नहीं होंगे। किन्तु हम जितनी गहराई से, जितनी सूक्ष्मता से देखते चले जाएंगे, वे पर्याय, एक-एक कर, क्रमशः उद्घाटित होते चले जाएंगे। संभव है, यदि हम इसी पेंसिल को पांच-दस दिन तक देखते रहें तो यह पेंसिल पेंसिल नहीं रहेगी। हमारे लिए यह और कुछ हो जाएगी। यह सत्य के उद्घाटन का माध्यम बन जाएगी।

तो हम आकार को देखें, बाहर को देखें और भीतर को भी देखें। स्थूल को देखें और सूक्ष्म को भी देखें। देखते रहें, देखते रहें। देखते ही चले जाएं। गहरे में

उतरकर देखें। देखना, केवल [illegible]
में देखेंगे, [illegible]
में कल्पना [illegible]
हमारे लिए [illegible]
बहुत है [illegible] के लिए। श्वास को देखें। [illegible]
बिन्दु पर छू रहा है, उसे देखें। श्वास कहां [illegible]
से भीतर आ रहा है श्वास, और कहां [illegible]
श्वास की मन्दता को देखें। [illegible] देखें कि कितना [illegible] है? कितना
छोटा है? [illegible]
है? श्वास कितना [illegible] है? उसकी [illegible] को देखें। श्वास की गति [illegible]
एक ही श्वास के विभिन्न [illegible] देखते चले जाएं।

शरीर को देखें। बहुत छोटा-सा है शरीर का आकार, पर [illegible] है। शरीर का यंत्र इतना बड़ा है कि [illegible] छोटी पड़ जाती है। इस छोटे-से शरीर में अनेक मशीनों का निर्माण हुआ है। यदि कोई मनुष्य निर्माण करने बैठे, तो [illegible] सफल नहीं हो सकेगा। छोटे से इस मस्तिष्क में अरबों [illegible] कोष्ठक हैं, अत्यन्त सूक्ष्म। आदमी उनका निर्माण नहीं कर सकता। किसी भी आदमी को यह क्षमता और योग्यता नहीं है कि वह इतनी सूक्ष्म मशीनरी का निर्माण कर सके।

अपने पास ही इतना देखने को पड़ा है कि बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं है। आप मस्तिष्क के एक-एक कोष्ठक को देखना प्रारंभ करें। अरबों-खरबों कोष्ठक हैं। कोई स्मृति का कोष्ठक है तो कोई संवेदना का कोष्ठक है। कोई क्रोध का कोष्ठक है तो कोई क्षमा का कोष्ठक है। कोई अभिमान का कोष्ठक है तो कोई माया का कोष्ठक है। जितने आवेग, जितनी वृत्तियां, जितनी वासनाएं हैं—सबके अलग-अलग कोष्ठक हैं। उन्हें देखें। आज्ञाचक्र को देखें। नासाग्र को देखें। नाभि को देखें। और भी अनेक स्थान है। आप उन्हें देखते चलें। अनेक रहस्य उद्घाटित होते रहेंगे।

देखना केवल देखना ही नहीं है। उसका एक परिणाम भी होता है। शरीर के किसी एक स्थान को देखने का अर्थ होता है कि मन केन्द्रित हो जाता है। जैसे ही आज्ञाचक को देखेंगे, मन सहज ही एकाग्र हो जाएगा। क्योंकि उस स्थान की अपनी एक विशेषता है कि जैसे ही मन वहां जाता है, वह उसे पकड़ लेता है। स्थान पकड़ लेगा। स्थान स्वयं मन को वहां टिकाना चाहेगा। हमारे शरीर में इतनी नाड़ियां हैं, इतना बड़ा नाड़ी-संस्थान है कि हम उनको देखते ही चले जाएं।

हमारे शरीर में अनेक ग्रन्थियां हैं। योग के प्राचीन आचार्यों ने उन्हें चक्र

कहा है। आज के शरीरशास्त्री उन्हें ग्लेन्ड्स कहते हैं। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति 'जूडो' मे उन्हें क्यूसोस (Kyushos) कहते हैं। यह एक आश्चर्यकारी बात है कि योग के आचार्यों ने चक्रों के जो स्थान और आकार माने हैं, आज के शरीरशास्त्रियों ने ग्लेन्ड्स के जो स्थान और आकार माने हैं और जूडो पद्धति मे क्यूसोस के जो स्थान और आकार माने हैं—वे तीनों समान हैं। विशेष अन्तर नहीं है। तीनों की धारणा समान है।

क्र० सं०	जूडो क्यूसोस	ग्लेन्ड्स	योग-चक्र
१.	टेन्डो (Tendo)	पिनिअल ग्लेन्ड	सहस्रार चक्र
२.	ऊतो (Uto)	पेच्यूटरी ग्लेन्ड	आज्ञा चक्र
३.	हिचू (Hichu)	थाइराइड ग्लेन्ड	विशुद्धि चक्र
४	क्योटोट्सु (Kyototsu)	थाइमस ग्लेन्ड	अनाहत चक्र
५.	सुइगेट्स (Suigetsu)	सोलार प्लेक्सस	मणिपुर चक्र
६	माइओजो (Myojo)	ऐड्रिनल ग्लेन्ड	स्वाधिष्ठान चक्र
७.	सुरिगने (Tsurigane)	पेल्विक प्लेक्सस	मूलाधार चक्र

एक के बाद एक ग्लेन्ड या क्यूसोस या चक्र को देखते चले जाइए। सबके स्थान स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने लगेंगे। इन्हें देखने का बहुत बड़ा परिणाम होता है।

हमारे सामने देखने के लिए बहुत चीजें हैं। यह प्रश्न व्यर्थ हो जाता है कि हम क्या देखें ? देखने के लिए यह शरीर ही पर्याप्त है। शेष जगत् भी बहुत बड़ा है। इतना बड़ा है कि देखने की वस्तुओं का कभी अभाव होगा ही नहीं। देखने के लिए कोई वस्तु निकम्मी नहीं है। जिस वस्तु को हम निकम्मी से निकम्मी मानते हैं, घृणित से घृणित मानते हैं, उसके दर्शन में भी हमें सत्य का दर्शन होता है। ये वस्तुएं निकम्मी या घृणित या खराब तब तक है जब तक हमारा दृष्टिकोण दूसरा होता है। जब दृष्टिकोण सत्य को देखने का हो जाता है, फिर कोई वस्तु निकम्मी नहीं है, कोई वस्तु घृणित नहीं है, कोई वस्तु खराब नहीं है। अच्छी-बुरी का भेद समाप्त हो जाता है। केवल यथार्थ को देखने की, सत्य को देखने की बात शेष रह जाती है।

क्या देखें ? यह पहला प्रश्न था। इस पर मैंने थोड़ी-सी चर्चा की।

अब दूसरा प्रश्न है—कैसे देखें ? यह बहुत ही महत्त्व का प्रश्न है। देखना जितना महत्त्वपूर्ण है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है—कैसे देखें ? इसका सीधा उत्तर

यह है 'अनिमेष दर्शन'। किसी वस्तु को एकटक देखें। आंखें खुली हैं, उन्हें खुली रहने दें। पलकें न झपकाएं। एकटक देखें। यह होगा 'अनिमेष दर्शन'—एकटक देखना। तंत्र और हठयोग में इसे 'त्राटक' कहा गया है। त्राटक का अर्थ है—एक बिन्दु को अपलक दृष्टि से देखना, निरंतर देखना।

तीसरा प्रश्न है—क्यों देखें? देखना चेतना का मूल स्वभाव है। सोचना बुद्धि का काम है। बुद्धि चेतना की एक रश्मि है। विचारना उसका एक आलोक है। देखना अखंड चेतना का काम है। जब चेतना अनावृत होती है तब केवल दर्शन होता है, चिन्तन नहीं होता। देखना हमारा स्वभाव है इसलिए क्यों देखें—यह प्रश्न ही नहीं होता। हम अपने स्वभाव से कम परिचित हैं, इसलिए यह प्रश्न होना अस्वाभाविक भी नहीं है। जितना गहरा और स्थिर देखते हैं, उतनी ही एकाग्रता होती है। उतनी ही समाधि पुष्ट होती है। समाधि का सबसे ऋजु उपाय है देखना। किसी एक बिन्दु या लक्ष्य पर मन को स्थिर करें और निरंतर देखते जाएं। कुछ ही क्षणों में निर्विचारता घटित हो जाएगी, समाधि का अनुभव होने लगेगा। देखने की निरन्तरता जैसे-जैसे बढ़ेगी, वैसे-वैसे समाधि पुष्टि होती चली जाएगी।

एकाग्रता और निर्विचारता के जितने साधन हैं—मंत्र, जप, श्वास-निरोध, एक विचार का अवलंबन आदि-आदि—वे सब स्वाभाविक नहीं हैं। इनमें कुछ विशेष विकल्प या प्रयत्न करना होता है। देखना स्वाभाविक है। उसमें किसी कल्पना, विचार या विकल्प का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। मन को बल-पूर्वक नियोजित करने की स्थिति भी नहीं आती। केवल मन का नियोजन करना होता है। उससे सहज ही स्वभाव उद्बुद्ध हो जाता है और छिपी हुई शक्ति प्रकट हो जाती है। स्वभाव की अनुभूति, चैतन्य का साक्षात्कार, स्थूल में छिपे हुए सूक्ष्म का प्रत्यक्षीकरण, आनन्द और शक्ति की अनुभूति सतत दर्शन के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए देखने का अर्थ बहुत गंभीर और बहुत जटिल नहीं है, बहुत मीमांसनीय भी नहीं है।

दर्शन (देखने) के तीन प्रश्न हैं—क्या देखें? कैसे देखें? क्यों देखें?

इन तीनों प्रश्नों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत है। अब दूसरा पहलू है—सोचना। सोचना, विचार करना, चिंतन करना। चिंतन भी सत्य की उपलब्धि का बहुत बड़ा साधन है। व्यर्थ नहीं है। विचार की व्यर्थता नहीं है। विचार की भी सार्थकता है। विचार की व्यर्थता तब होती है जब वह किसी एक विषय पर केन्द्रित नहीं होता। केवल विचार करते चले जाते हैं, तब विचार की व्यर्थता होती है। समझदार आदमी और पागल आदमी में अन्तर क्या है? बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। छोटा-सा अन्तर है। जो आदमी, जब चाहे तब, अपने विचारों पर नियंत्रण कर सकता है, वह होता है, समझदार आदमी। जो आदमी अपने

अपनी जबानी अपनी गाथा सुनाओ।' इन विचारों में वे तन्मय हो जाते। इसी समस्या को लेकर वे एकाग्र हो जाते। एकाग्रता के चरम बिन्दु पर पहुंचते ही वह पौधा या वृक्ष अपने सारे गुण-धर्म बता देता। चरक जान जाते। यह एक सत्य घटना हो जाती। वृक्ष नहीं बोलता था। पौधा नहीं बोलता था। किन्तु उस समस्या के आधार पर, चिंतन चलते-चलते, मन की इतनी गहरी पकड़ हो जाती कि मन सूक्ष्म पर्यायों का साक्षात्कार कर लेता है। अपने आप सारे पर्यायों का उद्घाटन हो जाता है। यह विचार की प्रक्रिया, सत्य को जानने की बहुत सशक्त प्रक्रिया है। इसके द्वारा अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। आज भी अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया जा सकता है। जैन परिभाषा में इसे 'धर्म्य ध्यान' कहा है।

दो ध्यान शुभ माने जाते हैं— धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान। शुक्ल ध्यान का अर्थ है—आत्मा को देखना। यहां आत्म-साक्षात्कार की बात आ जाती है। धर्म्य-ध्यान का अर्थ होता है—वस्तु का स्वभाव। यहां धर्म नहीं, धर्म्य है। धर्म-अधर्म, ये शब्द नहीं है। ये दोनों आचार से संबंधित हैं, आचरण से संबंधित हैं। धर्म्य शब्द से इनका संबंध नहीं है। धर्म्य का अर्थ है—वस्तु-स्वभाव। वस्तु के स्वभाव को विचार के द्वारा जानना, विचय के द्वारा जानना, चिंतन के द्वारा जानना—यह है धर्म्य ध्यान की प्रक्रिया। इसके द्वारा वस्तु के गुण-धर्म जाने जा सकते हैं। हम जान सकते हैं कि वस्तु के गुण क्या हैं ? दोष क्या हैं ? इसके द्वारा वस्तु के गुण-दोष जाने जा सकते हैं। वस्तु का आकार जाना जा सकता है। वस्तु की प्रकृति जानी जा सकती है। वस्तु का भीतरी स्वरूप, सूक्ष्म स्वरूप जाना जा सकता है। यह सारा है—विचय ध्यान या विचार ध्यान या चिंतन ध्यान। इसका तात्पर्य है—विचार-प्रधान ध्यान, चिन्तन-प्रधान ध्यान। हम ऐसा न मानें कि सोचना ध्यान नहीं है, विचार करना ध्यान नहीं है। विचार करना भी ध्यान है, सोचना भी ध्यान है। परन्तु विचार करना ध्यान तब बनता है जब वह विचार एक दिशा-प्रवाही हो, बिखरा हुआ या छितरा हुआ न हो। एक दिशा में बहने वाला पानी धारा बन जाता है। धारा चाहिए। ध्यान के लिए धारा होना बहुत जरूरी है। छितरे बिन्दु या छितरा पानी धारा नहीं बन सकता। वैसे ही बिखरे विचार ध्यान नहीं हो सकते। वे विचार जब केन्द्रित हो जाते हैं, एक दिशागामी हो जाते हैं, तब ध्यान बन जाते हैं।

विचार भी ध्यान है। निर्विचार भी ध्यान है। ध्यान दोनों हैं। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। एक दिशा में प्रवाहित होने वाले विचार ध्यान हैं। यह है विचार-ध्यान। दर्शन की भूमिका है निर्विचार ध्यान। यहां विचार नहीं होता केवल दर्शन होता है। होना जरूरी है कुछ न कुछ। यह न मानें कि निर्विचार ध्यान में कुछ भी नहीं होता। कुछ नहीं होना, यह मूर्च्छा की स्थिति है, ध्यान की स्थिति नहीं है। ध्यान में कुछ न कुछ उद्देश्य या लक्ष्य या विषय होता है। एक

देखें, फिर उसके परिणामों पर विचार करें, चिन्तन करें और जो निष्कर्ष निकले उससे लाभ उठाएं।

ध्यान के दो पहलू हैं—प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा। हम देखें और सोचें। हम दोनों प्रकार के ध्यानों का अवलम्बन लेकर सत्य का बोध करें, यथार्थ को जानें, समझें और तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास करें। इससे प्रेक्षा ध्यान की सफलता प्राप्त हो सकेगी। प्रेक्षा ध्यान का प्रयोजन ही है कि हम ध्यान की गहराई में जाकर देखने और सम्यक् प्रकार से चिंतन करने का अभ्यास कर सकें और सत्य का साक्षात् कर सकें।

२

शरीर को साधें

पहले पॉवर हाउस बनता है। फिर तार खींचे जाते हैं। फिर बिजली उन तारों में प्रवाहित होती है और फिर बल्ब में प्रकट होती है। बिजली तब तक प्रकट नहीं होती जब तक बल्ब न मिले। हम केवल विद्युत् प्रवाह (करंट) पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं करते, किन्तु वह जिसमें अभिव्यक्त होता है उस पर भी पूरा ध्यान केन्द्रित करते हैं।

हमारा शरीर शक्तियों की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। हम यदि केवल शक्तियों पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और उन शक्तियों के अभिव्यक्त होने के माध्यम पर ध्यान केन्द्रित न करें तो इससे भयंकर भूल और कोई नहीं होगी। शरीर माध्यम है। उसकी उपेक्षा करना भीषणतम भूल होगी।

सबसे पहले हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि हमारा शरीर प्रकट होने वाली शक्तियों को झेल पाने में समर्थ है या नहीं? सशक्त है या नहीं? इसमें क्षमता है या नहीं? यदि वह सशक्त नहीं है, सक्षम नहीं है तो किसी भी शक्ति का उसमें अवतरण नहीं होगा। कोई भी शक्ति अभिव्यक्त नहीं होगी। दुर्बल शरीर से किसी भी शक्ति का अवतरण नहीं होता। हमारे शरीर के जितने शक्ति-केन्द्र हैं वे पूरे शक्तिशाली बन जाते हैं तभी उसमें किसी विशेष शक्ति का अवतरण हो सकता है। इस दृष्टि से मैं एक तथ्य आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं कि हम शरीर के प्रति उदासीन न हों, उसके प्रति घृणा का भाव न रखें। हम शरीर से प्रेम करना सीखें। प्रेम करें और इसलिए करें कि यह शरीर ही हमारी सारी सफलताओं का माध्यम है, सबसे बड़ा और शक्तिशाली माध्यम है। इस शरीर के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सबसे पहले हम शरीर को समझें और शरीर में रहे हुए विभिन्न शक्ति-केन्द्रों को समझें, चैतन्य-केन्द्रों को समझें।

शरीर क्या है? सामान्यतः यही समझा जाता है कि मांस, रक्त और गंदगी का पुतला है शरीर। इसमें हैं—हड्डियां, वसा और मज्जा। बड़ा बीभत्स रूप है, जिसे देखते ही मन घृणा से भर जाता है। शरीर का बीभत्स रूप हमारे सामने

प्रस्तुत है। हमने वैराग्य की दृष्टि से शरीर के बीभत्स रूप को देखने का प्रयत्न किया है। यह दृष्टिकोण गलत नहीं है। यह सच है कि शरीर ऐसा ही है, बीभत्स है। इसमें कोई सार दिखाई नहीं देता। यह जिन सात धातुओं से निष्पन्न है, वे सारी नश्वर हैं। यह शरीर खराब है, बीभत्स है, विकृत है, इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु यह भी तो देखने का एक कोण मात्र है। दूसरे-दूसरे कोण भी हो सकते हैं। किसी भी वस्तु को देखने का एक कोण नहीं होता। जब हम वस्तु को एक ही कोण से देखते हैं, तब हम एकांगी हो जाते हैं। हमारा दृष्टिकोण मिथ्या बन जाता है। दृष्टिकोण सम्यक् तब बनता है जब हम उस वस्तु को अनेक कोणों से देखें। जब हम अनेक कोणों से देखते हैं तब होता है हमारा दर्शन, अन्यथा दृष्टि रहती है। वह भी टूटी हुई दृष्टि रहती है। वह मिथ्या बन जाती है।

शरीर को देखने का दूसरा दृष्टिकोण भी है। वह यह है कि शरीर जितना सारभूत है, उतना सारभूत हमारे लिए कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। मूर्त्त वस्तु नहीं है। परमात्मा की, चैतन्य की या शक्ति की अभिव्यक्ति कोई कर सकता है तो यह शरीर ही कर सकता है। कोई भी केवलज्ञानी बना है तो वह समर्थ शरीर के बिना नहीं बना।

केवलज्ञान आत्मा की शक्ति है, उसकी निरावरण अवस्था है। इस अवस्था में ज्ञान के सारे आवरण दूर हो जाते हैं और पूर्ण चेतना, अखंड चेतना का उदय हो जाता है। किन्तु इस ज्ञान के प्रकट होने के लिए भी एक शर्त है। हर कोई शरीर केवलज्ञान के अवतरण को ही नहीं झेल सकता। शर्त यह है कि जो शरीर वज्रऋषभनाराच संहनन वाला होता है वही केवलज्ञान के अवतरण को झेल सकता है। इस शरीर वाला मनुष्य ही केवली हो सकता है, दूसरा नहीं। वज्रऋषभनाराच सबसे शक्तिशाली संहनन है, शरीर-संरचना है। इसमें अस्थि-बंध अत्यन्त मजबूत होता है। इस शरीर को धारण करने वाला मनुष्य ही केवली हो सकता है, सामान्य शरीरधारी मनुष्य नहीं।

आप सोचेंगे, यह कैसी शर्त ? यह कैसा अनुबंध शरीर के साथ ? केवलज्ञान की प्राप्ति चेतना का अभ्युदय है, विशुद्ध चेतना का अवतरण है, चेतना का पूर्ण विकास है। यह आत्म-निर्मलता से प्राप्त होता है। राग-द्वेष का संपूर्ण विलय होने पर मिलता है। फिर उसके साथ यह शर्त क्यों ? यह प्रतिबंध क्यों कि वज्रऋषभ-नाराच संहनन वाला मनुष्य ही केवली हो सकता है, दूसरा नहीं ?

यह तर्क हो सकता है, किन्तु मैं समझता हूं कि यह प्रतिबंध बहुत महत्त्व-पूर्ण है।

एक छोटा-सा मंच बनाया। उस पर दस आदमी बैठ सकते हैं। इतनी ही है क्षमता उसमें। यदि उस पर पचास आदमी बैठने का प्रयत्न करें तो वह मंच टूट जाएगा, क्योंकि उसमें पचास आदमियों के भार को झेलने की क्षमता नहीं है,

शक्ति नहीं है। पतले कपड़े में भारी चीज़ डालने से कपड़ा फट जाता है। जितना भार है, उस भार को उठाने की, झेलने की जिसमें क्षमता है, वही उस भार को उठा सकता है, झेल सकता है।

शरीर का संहनन, शरीर की संरचना यदि दुर्बल है, हमारा स्नायु-संस्थान दुर्बल है, कमजोर है और यदि उसमें कैवल्य जैसी शक्ति का अवतरण हो जाए तो शरीर फट जायेगा। उसे झेल नहीं पायेगा। चूर-चूर हो जायेगा। कैवल्य की बात तो दूर, छोटी-मोटी शक्ति के अवतरण को भी वह झेल नहीं पायेगा। चूर-चूर हो जाएगा।

मस्तिष्क में एक चक्र है—सहस्रार। वह शक्ति-केन्द्र है। कोई दुर्बल व्यक्ति उस शक्ति-केन्द्र पर ध्यान करता है। ध्यान के साथ वह चक्र सक्रिय हो जाता है। उसकी सक्रियता गर्मी पैदा करती है, ताप और ऊर्जा पैदा करती है। वह गर्मी इतनी तीव्र होती है कि दुर्बल शरीर उसे सह नहीं सकता, झेल नहीं सकता। आदमी पागल हो जाता है।

सामान्यतः बता दिया जाता है कि सहस्रार चक्र पर ध्यान करो, मन को एकाग्र करो। परन्तु साथ में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि किस अवस्था में उस केन्द्र पर ध्यान करना चाहिए। जब तक हम आज्ञाचक्र को नहीं साध लेते, आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता का विकास नहीं कर लेते और सीधा सहस्रार चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने के प्रयत्न में लग जाते हैं तो अनर्थ घटित हो सकता है। लाभ के बदले अलाभ हो सकता है। वह प्रयत्न सार्थक नहीं होगा, क्योंकि उस तीव्र ताप को झेल सकने की क्षमता हमारे शरीर में नहीं है। अनेक ध्यान-साधक पागल हो जाते हैं। यह ध्यान का दोष नहीं है। यह स्वयं ध्यान-साधक का दोष है, क्योंकि वह इस बात को नहीं जानता कि कब, किस स्थिति में, कहां ध्यान करना चाहिए? पहले किस शक्ति का विकास करना चाहिए और किस शक्ति का बाद में विकास करना चाहिए? जहां यह ज्ञान नहीं होता, वहां तनाव बढ़ता है, ताप बढ़ता है, लाभ के बदले नुकसान होता है।

हम इस बात को भी समझें कि शरीर की शक्तियों के विकास का भी एक क्रम है। शरीर को हमें साधना है तो उन शक्तियों का क्रमिक विकास करना होगा। सबसे पहले हम बैठना सीखें। शरीर को साधने का पहला चरण है—बैठना सीखना। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी के आधार पर आसनों का विकास हुआ है। हजारों-हजारों प्रकार बैठने के बतलाए गए हैं। एक-दो नहीं, हजारों प्रकार। बहुत छोटी-सी बात लगती है यह कि हम बैठने पर इतना ध्यान क्यों दें? इतने प्रकारों की क्या जरूरत है? आसनों के इतने भारी विकास की क्या आवश्यकता थी?

एक छोटी-सी बात है—बैठने की। आदमी जैसा चाहे वैसा बैठ जाए। किन्तु

जब शरीर को साधना है और शरीर मे विशिष्ट शक्तियों का अवतरण करना है तो *बैठने की बात को महत्त्व देना ही होगा। कैसे बैठें, इसे समझना होगा।*

सीधे बैठें। रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। ग्रीवा सीधी रहे। पीछे का पूरा भाग—सुषुम्ना के छिरे से लेकर मूलाधार तक, पुतो तक का भाग—पूरा का पूरा सीधा रहे। यह साधना है। सामान्यतः आदमी सीधा नही बैठता—या तो वह आगे की ओर झुककर बैठेगा या पीछे की ओर झुककर बैठेगा या अकड़कर बैठेगा। वह सीधा नही बैठता। साधना की दृष्टि से सीधा बैठना बहुत आवश्यक है। सीधा बैठने का अर्थ ही है कि हमारी प्राणधारा मे कोई अवरोध उत्पन्न नही होता। प्राणधारा का सबसे अधिक प्रवाह पृष्ठरज्जु मे, सुषुम्ना मे होता है। रीढ़ की हड्डी पोली है। उसमे सुषुम्ना नाली है। वह मध्य नाली है। उसमे प्राण का प्रवाह होता है। यदि हम टेढ़े बैठते हैं तो प्राण के प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न होता है। अकड़कर बैठते हैं तो भी प्राण के प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न होता है। हम इधर-उधर मुड़ते हैं तो भी प्राण के प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न होता है। सीधे बैठने से यह अवरोध उत्पन्न नही होता। इसीलिए कहा गया है कि सीधे बैठो। रीढ़ की हड्डी का, सुषुम्ना का केवल साधना की दृष्टि से ही मूल्य नही है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत मूल्य है। आयुर्वेद के आचार्यों ने यहा तक लिखा है कि भोजन करें तब सीधे बैठें, टेढ़े-*मेढ़े नही। बोलें तो टेढ़े न हो। छीकें तो टेढे न हो। कोई भी शरीर की क्रिया* करें, तब रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, टेढी न हो।

हमारे स्वास्थ्य का मूल आधार है—सुषुम्ना की स्वस्थता। रीढ़ की हड्डी यदि स्वस्थ है, ठीक है तो सारे स्वास्थ्य मे कोई गड़बड़ी नही होगी और यदि वह अस्वस्थ है, ठीक नही है तो उसका असर समूचे शरीर पर आएगा। आज चिकित्सा जगत् मे माना जाता है कि रीढ़ की हड्डी की विकृति के कारण ही बीमारियां उत्पन्न होती हैं। इसलिए किसी भी बीमारी की अलग से चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं है, केवल रीढ़ की हड्डी की चिकित्सा कर दो, बीमारी ठीक हो जाएगी। यह भी चिकित्सा की एक पद्धति है।

मेरे घुटने मे दर्द था। एक चिकित्सक को दिखाया। उसने 'एक्यूपक्चर' चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा प्रारंभ की। उसने कहा—'रीढ़ की हड्डी मे कुछ *गड़बड़ है, इसीलिए घुटने मे दर्द हुआ है।' यह कहा का संबध ! घुटने मे दर्द है* और उसका संबध है रीढ़ की हड्डी से। पेट मे दर्द होता है, सिर मे दर्द होता है, कमर मे दर्द होता है, शरीर मे कही भी दर्द हो—वह सारा होता है रीढ़ की हड्डी की गड़बड़ी के कारण। उसकी चिकित्सा करो, दर्द मिट जाएगा। बीमारी मिट जाएगी। रीढ़ की हड्डी हमारे शरीर और स्वास्थ्य का मूल केन्द्र है। साधना की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है। जिस साधक ने सुषुम्ना को ठीक से समझ लिया, उसने साधना की चोटी पकड़ ली। जिसने सुषुम्ना को ठीक से नही समझा, उसे

नहीं साधा, वह साधना करता हुआ भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सकता ।

हमारे शरीर में अनेक चैतन्य-केन्द्र हैं, जहां चेतना विकसित है, प्रकट है। इन केन्द्रों के माध्यम से विशेष शक्तियों का अवतरण होता है। हम उन केन्द्रों को साधें, विकसित करें। जब तक हम उनको विकसित नहीं करेंगे, तब तक उन का उपयोग नहीं हो सकेगा। एक कहानी है, किन्तु वह इस तथ्य को स्पष्ट करने वाली है।

एक भाई अपनी बहन के घर गया। भोजन का समय हुआ। न जाने बहन के मन में क्या बात उत्पन्न हुई, उसने थाली में गेहूं परोसे और उसे भाई के सामने रख दी। भाई प्राकृतिक चिकित्सा नहीं करवा रहा था कि कच्चे गेहूं खाए। परन्तु बहन ने परोसा। भाई ने देखा। वह बोला—'बहन ! यह क्या ? ये कैसे खाए जा सकते हैं ?' बहन बोली—'भैया ! मैंने मूल वस्तु परोसी है। सारे खाद्य इसी से बनते हैं। यह मूल खाद्य है। मैंने सोचा—भाई घर आया है। उसे मूल का ही भोजन कराऊं।' भाई ने सुना। बिना कुछ खाए उठ गया। बेचारा खाता भी तो क्या ?

कुछ महीने बीते। बहन की लड़की के विवाह का प्रसंग आया। बहन के घर उसने एक पूड़ा भेजा। भाई के घर से कुछ आया देख, बहन प्रसन्न हुई। उसने पूड़ा खोला। उसमें रूई थी। केवल रूई। बहन को कुछ भी समझ में नहीं आया। वह बढ़िया कपड़ों की आशा लगाए बैठी थी। पर मिली उसको केवल रूई। कुछ दिनों बाद भाई भी आ गया। बहन ने पूछा—'यह क्या मजाक ! विवाह में रूई का क्या प्रयोजन ? भेजने थे कपड़े और भेजी रुई। यह क्यों ?' भाई बोला—'बहन ! मैंने मूल भेजा है। सारे कपड़े इसी रुई से बनते हैं। मैंने सोचा—कपड़ों का क्या भेजना। बहन के घर विवाह है। कपड़ों का मूल ही भेज दूं, इसीलिए रुई भेजी है। यह सब कपड़ों का मूल है।'

सारा भोजन गेहूं से बनता है और सारे कपड़े रुई से बनते हैं, यह सही है, पर बात अधूरी है, पूरी नहीं। मैं भी मानता हूं कि गेहूं से भोजन बनता है और रुई से कपड़े बनते हैं किन्तु केवल गेहूं से न पेट भरता है और केवल रुई से न लज्जा का निवारण होता है और न सर्दी-गर्मी से बचाव ही होता है। गेहूं से भोजन बनाना होता है, तब भूख मिटती है। रुई से कपड़ा बुनना होता है तब लज्जा का निवारण हो सकता है और सर्दी-गर्मी से बचाव हो सकता है। पेट तभी भरेगा जब गेहूं से रोटी बना कर खायी जाएगी। सर्दी-गर्मी से तभी बचाव हो सकता है जब रुई से कपड़ा बुन लिया जाता है।

हमारा शरीर मूल है, कच्ची सामग्री है। इससे हम जो चाहें बन सकते हैं, [illegible] है। इसमें हमारे सभी शक्ति के केन्द्र और चैतन्य के केन्द्र मौजूद हैं। [illegible] हम वर्तमान को भी देख सकते हैं, अतीत को भी देख सकते हैं और

भविष्य को भी देख सकते हैं। जिस शक्ति के अवतरण के बाद हम अपने हाथ को वज्र भी बना सकते हैं और अपनी छाती पर से मोटर और हाथी को भी निकलवा सकते हैं।

जो लोग इस प्रकार के प्रदर्शन करते हैं, जिनकी छाती के ऊपर से ट्रक निकल जाता है, पर हड्डी नहीं टूटती, शरीर का एक कतरा भी नहीं टूटता, यह कैसे संभव होता है ? यह होता है। जिस व्यक्ति ने अपने प्राण को साध लिया, वह ऐसा कर सकता है। उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। ऐसा होता है। पर कच्चे माल से ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता। केवल शरीर से ऐसा नहीं हो सकता। कच्चे गेहूं से पेट नहीं भरता। केवल रुई से सर्दी-गर्मी नहीं मिटती। पेट भरने के लिए, तन ढंकने के लिए और-और तैयारी की भी जरूरत होती है। यही बात शरीर के संबंध में है। शरीर को साध लेने की जरूरत है। उन शक्ति-केन्द्रों और चैतन्य-केन्द्रों को विकसित कर लेने की जरूरत है। पूरी तैयारी की जरूरत है। साधना की दृष्टि से शरीर की साधना अत्यन्त आवश्यक है।

शरीर को साधें। *शरीर के हर अवयव की जो शक्ति और चैतन्य के अवतरण* की जो क्षमता है, अभिव्यक्ति की जो क्षमता है, उस केन्द्र को इतना शक्तिशाली बना लें कि बड़ी शक्ति का अवतरण हो सके, विशाल चैतन्य की अभिव्यक्ति हो सके और उसका हम उपयोग कर सकें।

शरीर को साध लेने का एक उपाय है—आसन। आपने सुना होगा कि भगवान् महावीर सोलह-सोलह दिन-रात तक खड़े-के-खड़े रह जाते। खड़ा रहना भी एक आसन है। महावीर कभी उकड़ू आसन में बैठते तो रात-भर बैठे रहते। पंजा भूमि पर टिका रहता, पर एड़ी ऊंची रहती। वे केवल पंजों के आधार पर पूरी रात, पूरे दिन बैठे रहते। जैन, बौद्ध और वैदिक परंपरा में हजारों-हजारों साधक हुए हैं, सन्यासी हुए हैं। उन्होंने अपने शरीर को साधने के लिए विभिन्न आसनों का सहारा लिया है। यह अस्वाभाविक और असहज-सा लगता है कि कोई साधक इतने लंबे समय तक एक ही आसन में बैठा रह सके ? यह अस्वाभाविक लग सकता है, पर बात ऐसी नहीं है। आपको कोई कहे कि रात भर न सोए, उकड़ू आसन में रात बिताए, आपको लगेगा—यह क्या ! अस्वाभाविक कथन है। पर जिन्होंने शरीर को साधा है उनके लिए यह सब असहज नहीं है, अस्वाभाविक नहीं है।

कायोत्सर्ग करना अस्वाभाविक लग सकता है। तर्क हो सकता है कि शरीर को हिलाए-डुलाए बिना कैसे बैठा रहा जा सकता है ? यह असंभव है। आपको ज्ञात होगा कि भगवान् ऋषभ के पुत्र बाहुबली बारह महीनों तक कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े रहे। एक पूरा वर्ष बीत गया। आस-पास घास उग गया। लताओं ने उनके शरीर को आवेष्टित कर डाला। पक्षियों ने शरीर पर नीड़ बना लिये। वे

अचल खड़े रहें। क्या यह संभव है कि एक व्यक्ति एक वर्ष तक, पूरे बारह महीने तक खड़ा रह सके? हिले-डुले नहीं। असंभव-सा लगता है। सब ऐसा नहीं कर सकते। किंतु जिस व्यक्ति ने अपनी शक्तियों को जागृत करने के लिए, अपने शक्ति-केंद्रों को विकसित करने के लिए, प्रकट करने के लिए, शरीर को साध लिया, वह व्यक्ति ऐसा कर सकता है। ऐसा हो सकता है। इस स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। हम यह न मानें कि वह संभव नहीं है किंतु यह मानें कि हमने उसे संभव बनाने का प्रयत्न नहीं किया जिसे संभव बनाया जा सकता है।

दूसरी बात है—आसनों की। इसमें खड़ा रहना, लेटना और बैठना—तीनों बातें समा जाती हैं। शरीर को साधने के लिए आसनों को साधना बहुत जरूरी है। आसनों को साधने का अर्थ है—सोए हुए शक्ति-केंद्रों को जगाना, सक्रिय बनाना, गतिशील बनाना। शरीर को साधने का आसन ही एकमात्र साधन नहीं है। दूसरा साधन है श्वास।

श्वास शरीर से अलग नहीं है, उसी का एक भाग है। श्वास को साधने का अर्थ है शरीर को साधना और शरीर को साधने का अर्थ है श्वास को साधना।

दूसरा प्रश्न है कि श्वास कैसे लें। जैसे आसनों के हजारों प्रकार विकसित हुए

मस्थान, जो कि शक्ति को झेलने का काम करता है, वह इस प्रक्रिया से विकसित हो जाता है, शक्तिशाली हो जाता है।

तीसरा प्रश्न है—चक्रों के विकास का। ये चक्र ज्ञान-केंद्र हैं, शक्ति-केंद्र हैं। इनका विकास करना है। शरीरशास्त्र में जो ग्रंथियां कहलाती हैं, योग की भाषा में वे चक्र हैं। इनकी विस्तृत चर्चा पहले हो चुकी है।

वर्तमान का विज्ञान बताता है कि हमारे मस्तिष्क के पिछले भाग में दो ग्रंथियां हैं। वे बहुत छोटी हैं और एक-दूसरे से सटी हुई हैं। एक ग्रंथि को विकसित करने का अर्थ है कि उसके विकसित होने पर आप आनन्द से भर जायेंगे। आपकी संवेदना नष्ट हो जाएगी। कोई भी घटना घटित होती हो, आपके मन में कोई भी संवेदना नहीं होगी, कोई पीड़ा नहीं होगी, कोई व्यथा नहीं होगी। अखंड आनंद निरंतर बना ही रहेगा।

दूसरी जो सटी हुई ग्रंथि है, वह अगर जागृत हो जाए, विकसित हो जाए तो आपका मन सदा दुःख से भरा रहेगा, दुःख कभी मिटेगा नहीं। अच्छी घटना हो या बुरी घटना, दुःख निरंतर बना रहेगा। उसे मिटाया नहीं जा सकेगा।

दोनों ग्रन्थियां सटी हुई हैं। एक आनंद की है और एक दुःख की। एक के विकसित होने पर आनन्द का सागर हिलोरें लेने लग जाता है और दूसरी के विकसित होने पर दुःख के पर्वत टूट पड़ते हैं। दोनों सटी हुई हैं, अतः इनको जागृत करने की प्रक्रिया खतरे से खाली नहीं है। खतरा यह है—आनन्द की ग्रन्थि को जागृत करने चले और तनिक-सी भूल से यदि दुःख की ग्रन्थि जागृत हो जाए तो फिर साधक दुःख के गर्त में गिर पड़ता है। सुख की ग्रन्थि जागृत करने चले और दुःख की ग्रन्थि जागृत हो जाए तो कितना बड़ा खतरा हो सकता है—इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

सुख का प्रकट होना, दुःख का प्रकट होना, ज्ञान का प्रकट होना, शक्ति का प्रकट होना—यह सारा-का-सारा हमारी ग्रन्थियों, ज्ञान-तन्तुओं और शरीर-तन्तुओं पर आधारित है। ये सारे शरीर में हैं। ऐसी स्थिति में हम शरीर की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? उस शरीर को साधे बिना हम विकास कैसे कर सकते हैं? शरीर की तैयारी के बिना, केवल भावना के बल पर, हम आगे बढ़ नहीं सकते। यह बहुत जरूरी है कि जैसे हम भावना को शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही शरीर की शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न करें। शरीर के सोए हुए जो ज्ञान-तन्तु हैं, ज्ञान-तन्तुओं के गुच्छक हैं, उनको विकसित करने का, खोलने का प्रयत्न करें। वे जब तक नहीं खुलेंगे, विकसित नहीं होंगे और उनमें विशिष्ट शक्तियों को झेलने की क्षमता विकसित नहीं होगी, तब तक विशिष्ट शक्तियों और आनन्द के अवतरण का प्रयत्न भी सफल नहीं होगा। शरीरशास्त्र बतलाता है कि हमारी ग्रन्थियां स्राव और हार्मोन जब तक उपयुक्त मात्रा में नहीं होते तब

तक कोई भी विशेष प्रक्रिया नहीं हो सकती। स्वास्थ्य के लिए भी यही बात है। जब तक अमुक प्रकार के हार्मोन नहीं होते, तब तक स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रह सकता।

'थाइराइड' एक ग्रन्थि है। यदि उसका स्राव ठीक नहीं है, उचित मात्रा में नहीं है तो या तो आप निराशा से भर जायेंगे या आप में हीन भावना पैदा हो जाएगी। अगर शरीर बच्चे का है तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। शरीर का बढ़ना या नाटा रहना—ये सारे कार्य उन ग्रन्थियों के स्रावों पर निर्भर हैं। कोई आदमी चिड़चिड़े स्वभाव वाला होता है, कोई आदमी बहुत प्रसन्न-मुद्रा में रहता है। इसे आप केवल कर्म का ही फल न मानें। कर्म का भी फल हो सकता है। किन्तु कर्म का फल किस माध्यम से प्रकट होगा, इस पर भी हम ध्यान दें। हमने सबसे बड़ी भूल यह की है कि हमने मान लिया कि प्रत्येक कार्य, क्रिया या जो कर्म के आधार पर होती है या भावना के आधार पर होती है। या और कोई [illegible] मान लिया। किन्तु इस बात को भुला दिया कि इसके पीछे शरीर का भी हाथ है, बहुत बड़ा योग है। शरीर की उपेक्षा कर दी। हमने शरीर की उपेक्षा करने को ही वैराग्य मान लिया। इसे ही हमने विरक्ति समझ लिया। हमने यह मान लिया कि शरीर भी क्या कोई ध्यान देने की चीज है? कोई आवश्यकता नहीं है उस पर ध्यान देने की।

यह भूल-भरा दृष्टिकोण है। हमारी भावनाओं के साथ शरीर का संबंध है, हमारी [illegible] के साथ शरीर का संबंध है, हमारी शक्ति के विकास के साथ [illegible] है। इस बात को कभी न भूलें। हम जब साधना की चर्चा करते हैं और [illegible] प्रकार की [illegible] की अभिव्यक्ति अपने में करना चाहते हैं तो [illegible] इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें कि हमने शरीर को कितना साध लिया है? [illegible] शरीर को [illegible] उपयुक्त बना लिया है? कोई भी चित्रकार [illegible] का निर्माण नहीं कर सकता। बहुत सुन्दर चित्र [illegible], तो सुन्दर चित्र कैसे उभरेगा? सुन्दर चित्र के लिए [illegible] भूमिका और उपयुक्त स्थिति और उपयुक्त उपकरण [illegible] सुन्दर [illegible] बनाया जा सकता है।

[illegible] बात को विस्मृत न करें। शरीर [illegible] और [illegible] करना है, उसको [illegible] है।

[illegible] है—[illegible]। इसका अर्थ है—शरीर [illegible] और [illegible] नहीं कर सकते। [illegible] है। शरीर को [illegible]

शरीर के तीन मुख्य भाग हैं—मस्तिष्क, धड़ और पैर। मस्तिष्क शरीर का मुख्य भाग है। मन शरीर का एक भाग है, वचन शरीर का एक भाग है और श्वास शरीर का एक भाग है। ये सारे शरीर के माध्यम से ही प्रकट होते हैं। सैद्धान्तिक भाषा में यह कहा जाता है कि मन के लिए पुद्गलों का ग्रहण शरीर करता है। वचन के लिए पुद्गलों का ग्रहण शरीर करता है। श्वास के लिए पुद्गलों का ग्रहण शरीर करता है। उनको जो रॉ-मेटीरियल—कच्चा माल—चाहिए, वह सारा शरीर देता है। वे तो बाद में बनते हैं।

मन किसे कहा जाता है ? जिन मनोयोग्य पुद्गलों को शरीर ने ग्रहण किया, उन पुद्गलों को छोड़ने की क्रिया का नाम मन है।

वचन किसे कहा जाता है ? जिन वचनयोग्य पुद्गलों को शरीर ने ग्रहण किया, उन पुद्गलों को विसर्जित करने की क्रिया का नाम वचन है।

श्वास किसे कहा जाता है ? जिन श्वासयोग्य पुद्गलों को शरीर ने ग्रहण किया, उन पुद्गलों को छोड़ने की क्रिया का नाम श्वास है।

इस प्रकार सबसे शक्तिशाली केन्द्र है शरीर। शरीर के बारे में दो बातों पर हमें ध्यान देना है। पहली बात है कि हम शक्ति के व्यय को रोकें। दूसरी बात है कि हम प्राणशक्ति का संचय करें।

हम जाने-अनजाने बहुत सारी शक्ति का व्यय कर देते हैं। शक्ति का व्यय शरीर करता है, मस्तिष्क करता है और स्वचालित नाड़ी-संस्थान करता है। इन तीनों से शक्ति का व्यय होता है।

साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग करने का बार-बार विधान है। क्यों ? उसका उद्देश्य क्या है ? इसका एकमात्र उद्देश्य है कि शक्ति का जो व्यर्थ ही व्यय हो रहा है, उसे रोका जाए। बताया गया कि मौन करो। क्यों ? इसीलिए कि वाणी के द्वारा जो शक्ति खर्च हो रही है, उसे बचाया जा सके। कहा गया है कि मन को केन्द्रित करो, चंचलता को मिटाओ। किसलिए ? इसीलिए कि मस्तिष्क की जो शक्ति व्यर्थ ही खर्च हो रही है, उसे बचाया जा सके।

तो यह सारी क्रिया इसीलिए है कि शरीर की शक्ति को बचाया जा सके और शक्ति का सही अर्थ में उपयोग किया जा सके जो फ़ालतू खर्च हो रही है। जो व्यर्थ खर्च हो रही है उसे बचाकर, भंडार को सुरक्षित रखा जा सके और विशिष्ट चेतना के अवतरण के लिए उसका उपयोग किया जा सके।

दूसरी बात है शक्ति के संचय की, प्राण-शक्ति के संचय की। हमारी शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है—प्राणधारा। शक्ति प्राप्त होती है प्राणधारा के। हमारे शरीर में शक्ति का केन्द्र है मूलाधार चक्र और उसमें रही हुई ऊष्मा यहां प्राण उत्पन्न होता है। मूलाधार की ऊष्मा से प्राण पैदा होता है। नाभि

से स्वाधिष्ठान चक्र के नीचे तक के भाग को ऊष्मा से प्राण तत्त्व उत्पन्न होता है। वही प्राण हमारी जीवनशक्ति और प्राणशक्ति है। वही हमारे जीवन को संचालित करती है। उस शक्ति को पैदा किया जाए।

एक प्रयोग आपके सामने प्रस्तुत करूं। मैंने स्वयं इसका बहुत बार प्रयोग किया है। चलते-चलते जब थक जाता हूं, ऐसा लगने लगता है कि शरीर शिथिल हो गया है, पैर थक गए हैं तो उसका प्रयोग करता हूं और कुछ ही क्षणों में ताजगी का अनुभव होने लगता है, थकान मिट जाती है। बैठे-बैठे जब शिथिलता का अनुभव होता है तो दस-बीस बार इस प्रयोग को दोहराता हूं और तत्काल शिथिलता मिट जाती है, ताजगी का अनुभव होने लगता है। यह प्राण-शक्ति को उत्पन्न करने का प्रयोग है। यह प्रयोग है—मूलबंध का। आप अपनी गुदा का संकुचन करें। दस-बीस मिनिट तक इस मुद्रा में रहें। आपको तत्काल अनुभव होगा कि नयी शक्ति का संचार हो रहा है, ताकत आ रही है। क्योंकि प्राण उत्पन्न होने का जो केन्द्र है, उस पर हमने संयम कर लिया, उसे नियंत्रित कर लिया। उसे निरुद्ध बना लिया। वहां शक्ति का संचय होता है।

शक्ति उत्पन्न करने में बाहर का सहारा भी लिया जा सकता है। सूर्य प्राणशक्ति का, जीवनशक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है, खजाना है, भंडार है। वह अक्षय कोष है। हम सूर्य के द्वारा भी प्राणशक्ति को खींच सकते हैं। प्रातःकाल के समय, सूर्योदय के समय, सूर्य के सामने खड़े होकर यदि हम संकल्प करें कि प्राणशक्ति का संचय हो रहा है, ग्रहण हो रहा है, मस्तिष्क के मार्ग से प्राणशक्ति का आकर्षण हो रहा है; दस-बीस मिनिट इस संकल्प को दोहराएं और ध्यानस्थ मुद्रा में खड़े रहें—आपको अनुभव होगा कि नयी शक्ति का संचार हो रहा है, स्फूर्ति का [illegible] हो रहा है।

मैं शरीर को साधने के विषय में और उपाय के विषय में कुछ रेखाएं प्रस्तुत कर रहा [illegible]। यदि इस बात को हम ठीक समझ लें तो शरीर को [illegible] कि फिर हम आह्वान करेंगे, निमंत्रित करेंगे कि वहां से [illegible] और [illegible] अवतरण करे, प्रकट हो, अभिव्यक्त हो।

३

शब्द को साधें

ध्यान के साथ ध्येय का संबंध जुड़ा हुआ है। अनेक ध्येय होते हैं, अनेक ध्यान। सबके लिए एक ही ध्येय अनुकूल नहीं होता। व्यक्तिशः अलग-अलग अनुकूलताएं होती हैं। एक के लिए जो अनुकूल होता है, वह दूसरे के लिए नहीं भी होता। सहज श्वास पर ध्यान करना किसी के लिए सरल होता है, अनुकूल होता है, किन्तु कुछ लोग सहज श्वास को नहीं पकड़ पाते। वे अनुलोम, विलोम को सरलता से पकड़ पाते हैं। उनका मन उस पर जम जाता है। कोई दीर्घश्वास को सरलता से पकड़ पाता है। अभी-अभी एक साधक ने बताया कि समवृत्ति श्वास पर ध्यान अधिक केन्द्रित होता है। एक मुनि ने बताया कि दीर्घश्वास और समवृत्ति श्वास पर ध्यान केन्द्रित होता है, पर सहज श्वास पकड़ में ही नहीं आता। इस प्रकार सबके लिए एक ही ध्येय हो, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि आदमी यंत्र नहीं है, आदमी यांत्रिक नहीं है। सबकी अलग-अलग क्षमता और अलग-अलग रुचि होती है। इसलिए यह आग्रह नहीं होना चाहिए कि ध्येय एक ही होना चाहिए। जैसा प्रेक्षा ध्येय है, वैसे अनुप्रेक्षा भी ध्येय है। आज मैं केवल शब्दात्मक ध्येय की चर्चा करूंगा—इसे पदस्थ ध्यान भी कहा जाता है।

चार ध्यान बतलाए गए हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इनमें दूसरा ध्यान है—पदस्थ। यह शब्द-ध्यान है। शब्द की साधना है। नहीं बोलना, मौन रहना एक बात है और बोलना, दूसरी बात है। हम केवल मौन रहें, न बोलें, यह भी संभव नहीं है और केवल बोलते ही रहें, यह भी संभव नहीं है। जीवन में बोलने और न बोलने का योग होना चाहिए, संतुलन होना चाहिए। नहीं बोलने की चर्चा से पूर्व हमें यह समझना है कि हम बोलते हैं तो शब्द को साधें। शब्द के महत्त्व को समझें और उसकी सारी प्रक्रिया को जानें। इसका अर्थ है कि पदस्थ ध्यान करें, पद को ध्येय बनाएं, शब्द को ध्येय बनाएं और उसके आधार पर चित्त की एकाग्रता स्थापित करें।

पद का बहुत महत्त्व है। जब हम पद का उच्चारण करते हैं तब केवल ""

ही नहीं निकलता, केवल शब्द ही नहीं निकलता, उसके साथ हमारी भावना भी आती है, हमारा संकल्प भी आता है, मन की शक्ति भी आती है और श्वास का योग भी होता है। शरीर, श्वास, वायु, ध्वनि, संकल्प-शक्ति, मानसिक शक्ति—इन सबका जब योग होता है तब कोई शब्द हमारे सामने आता है। आदमी जब बोलता है तब बोलने के पीछे केवल शब्द ही नहीं होता, कई विशिष्ट प्रकार की शक्तियां भी होती हैं और वे शक्तियां अपने निश्चय के अनुसार प्रकट होती हैं।

श्रीकृष्ण और पांडव अमरकंका में गए। वहां के राजा पद्मनाभ ने द्रौपदी का अपहरण कर लिया था। पद्मनाभ को पता चला। वह भी अपनी सेना को सज्जित कर युद्धस्थल में आ गया। श्रीकृष्ण ने पांडवों से कहा—'जाओ, लड़ो।' पांडव गए। वे बड़े पराक्रमी और शक्तिशाली थे। पद्मनाभ सामने आया। पांडवों ने कहा—'आज ऐसा भयानक युद्ध होगा कि या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा। दोनों में से एक रहेगा।' जो मन का संकल्प था, भावना थी, वह प्रकट हो गई। युद्ध हुआ। स्थिति यह हुई कि पद्मनाभ स्थिर रहा और पांडव भाग खड़े हुए; क्योंकि उनका संकल्प शिथिल था। उनका संकल्प-सूत्र था—'अम्हे वा पउमणाभे वा'—या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा। पद्मनाभ रह गया, वे भाग गए।

श्रीकृष्ण ने यह देखा। वे आगे आए। संकल्प की भाषा में बोले—'अम्हे न पउमणाभे'—मैं रहूंगा, पद्मनाभ नहीं रहेगा। पुनः युद्ध हुआ। पद्मनाभ हार गया, भाग गया।

हमारे मुंह से केवल शब्द ही नहीं निकलता, उसके साथ अन्तःकरण की भावना, संकल्प की शक्ति भी साथ-साथ निकलती है। हमारा कैसा निश्चय है, हमारी भावना कैसी है, उस निश्चय और भावना का बल भी उस शब्द के साथ होता है। हम शब्द की शक्ति को समझते हैं, जानते हैं और यह भी जानते हैं कि [illegible] होता है।

हम अर्हम् का ध्यान करते हैं, अर्हम् का उच्चारण करते हैं। [illegible] अर्हम् की ध्वनि से। [illegible] क्रिया प्रारम्भ होती है अर्हम् [illegible] तो फिर ध्वनि क्यों? [illegible] अर्हम् की ध्वनि क्यों? अनुप्रेक्षा क्यों? [illegible]

[illegible]

देती। नाना प्रकार की भाषाएं त्राण नहीं बनती। मैं संस्कृत जानता हूं, हिन्दी जानता हूं, प्राकृत जानता हूं, अंग्रेजी जानता हूं, फ्रेंच जानता हूं—इस प्रकार भाषाओं का अहं बढ़ता है। भाषा बोलने का माध्यम है, विचार को व्यक्त करने का माध्यम है, वह हमारे अहंकार का माध्यम बन जाती है।

स्वामी रामतीर्थ अमेरिका गए। अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष उनसे मिलने आए। आते ही उन्होंने पूछा—'स्वामीजी ! आप अपने को बादशाह कहते हैं, यह कैसे ? आप के पास तो कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह थोड़ा ही है। फिर आप बादशाह कैसे हुए, यह समझ में नहीं आता।' रामतीर्थ ने कहा—'मेरे पास कुछ नहीं है इसीलिए तो मैं बादशाह हूं। जो पकड़ता है वह गरीब होता है। जो गरीब होता है वह सब चीजों को बटोरना चाहता है, इकट्ठा करना चाहता है। मैं गरीब नहीं हूं, बादशाह हूं। मुझे किसी की जरूरत नहीं। सारी दुनिया मेरी है। मैं क्या बटोरू, कहां से बटोरू और किसको बटोरू ? समूची दुनिया ही मेरी है। गरीब बटोरने का प्रयत्न करता है। आप सब बटोरने वाले हैं, गरीब हैं, दरिद्र हैं। सच्चा बादशाह तो मैं हूं, जो कुछ भी नहीं बटोरता। मेरे पास कुछ भी नहीं है, इसीलिए मैं बादशाह हूं।'

सचमुच बात बहुत ही मर्म की थी। उस मर्म ने राष्ट्राध्यक्ष के हृदय को बींध डाला। सन्यासी को भी संतोष मिला कि एक अकिंचन व्यक्ति की बात काम कर गई। वे भारत लौटे। उन्होंने सोचा—मैंने जो कुछ कहा, जो कुछ अनुभव किया, भारत के लोगों को भी बताऊं। भारत में उन्होंने काशी को चुना, क्योंकि काशी पंडितों की नगरी है। पंडित उस बात को अधिक समझ सकेंगे, उसको अधिक मूल्य देंगे। वे काशी पहुंचे। सभा आयोजित हुई। काफी लोग आए। बड़े-बड़े पंडित, दिग्गज विद्वान् आए। रामतीर्थ ने संस्मरण सुनाए। संस्मरण सुनने के बाद एक विद्वान उठा और बोला—'महाराज ! आप संस्कृत जानते हैं ?' रामतीर्थ ने कहा—'मैं संस्कृत नहीं जानता।' पंडित बोला—'तो फिर आप ज्ञान की क्या बात करते हैं ? जो संस्कृत नहीं जानता, वह ब्रह्मज्ञान को क्या समझेगा? वह ब्रह्मज्ञान की बात क्या करेगा ? कैसे करेगा ? उसे अधिकार ही नहीं है कि वह ब्रह्मज्ञान की बात करे।'

बात सारी समाप्त हो गई, मानो संस्कृत ने ही ब्रह्मज्ञान पर अधिकार कर लिया है। ब्रह्मज्ञान पर भाषा का ही अधिकार है। जो ब्रह्मज्ञान आत्मा की निर्मलता, आत्मा की पवित्रता और आत्मा की विशुद्धि से प्रसूत होता है, जो ब्रह्मज्ञान अन्तःकरण की पवित्रता से उत्पन्न होता है, उसे भाषा में कैद कर लिया, यह कितनी बड़ी विडम्बना है। जो संस्कृत जानता है वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। जो संस्कृत नहीं जानता, उसे ब्रह्मज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अन्तर ज्ञान को, आत्मा से सहज उत्पन्न होने वाले ज्ञान को भाषा में बांधकर हमने अपने अहं

धमनियों में, स्नायुओं में रक्त का प्रवाह है। फेफड़ा अपना काम करता है, लीवर अपना काम करता है। पाचन-तंत्र अपना काम करता है। सारे अवयव अपना काम कर रहे हैं। उनमें संघर्षण पैदा होता है। संघर्षण से विद्युत् उत्पन्न होती है। इसे घार्षणिक विद्युत् कहा जाता है। यह संघर्षण से पैदा होती है। एक विद्युत् हमारे मस्तिष्क में पैदा होती है। उसे धारावाही विद्युत् कहा जाता है। यह निरंतर पैदा होने वाली विद्युत् है। हमारे शरीर में दोनों प्रकार की विद्युत् हैं—घार्षणिक विद्युत् और धारावाहिक विद्युत्। दोनों में बहुत बड़ी शक्ति है। पवन भीतर जाता है। उसकी टकराहट से शब्द उत्पन्न होता है। शब्द के साथ दोनों प्रकार की विद्युत् जुड़ जाती है। शरीर के घर्षण से होने वाली विद्युत् भी शब्द के साथ जुड़ जाती है और मस्तिष्क की चुम्बकीय विद्युत् या धारावाहिक विद्युत् भी शब्द से जुड़ जाती है। शब्द शक्तिशाली हो जाता है। उसमें अपार शक्ति पैदा हो जाती है।

हम जब बोलते हैं तब शब्द के साथ विद्युत् भी निकलती है। एक व्यक्ति के शब्द का दूसरे पर प्रभाव होता है। उस प्रभाव का कारण है कि शब्द के साथ-साथ जो विद्युत् निकलती है वह प्रभावित करती है। हमारे शरीर में विद्युत् निकलने के कुछ मुख्य स्थान हैं—हाथ की अंगुलियां, पैर की अंगुलियां, आंखें और ध्वनि। इन स्थानों से होकर शरीर की विद्युत् बाहर जाती है। शब्द के साथ विद्युत् का योग होता है और वह योग शब्द को शक्तिशाली बना देता है। शब्द प्रभावोत्पादक बन जाता है। शब्द की तरंगें, शब्द के प्रकंपन बाहर निकलकर शक्ति पैदा करते हैं।

जो हम सामान्यतः बोलते हैं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि जैसे हम बोलते हैं, बारह वर्ष तक बोलते चले जाएं तो इतनी-सी विद्युत् पैदा होगी जिसके द्वारा एक बार हजामत कर सकें जितना पानी गर्म हो सकता है। इतनी-सी विद्युत् बहुत कम विद्युत् है किन्तु जब उस शब्द के साथ संकल्प की शक्ति जुड़ती है तो उसमें बहुत तीव्रता आ जाती है, तीव्र गति आ जाती है। इतनी गति कि संकल्प के साथ निकला हुआ वह शब्द प्रति सेकण्ड एक करोड़ मील की यात्रा कर लेता है। प्रकाश की गति एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील है। किन्तु संकल्प-शक्ति के साथ निकला हुआ शब्द विशिष्ट प्रकार की गति करता हुआ एक सेकण्ड में एक करोड़ मील चला जाता है। वर्तमान में इस विषय में अनेक खोजें हुई हैं। बहुत विकास हुआ है। आज सुपरसोनिक विमान आकाश की छाती को चीरकर उड़ान भर रहे हैं। वे ध्वनि की गति से भी तेज चलते हैं। हीरों को काटने के लिए ऐसे यंत्र बने हैं जो एक सेकण्ड में बीस हजार स्ट्रोक देते हैं, चोट करते हैं। यह होता है सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा।

हम पदस्थ ध्यान की शक्ति को समझें। पद एक माध्यम है। शब्द एक माध्यम

है। अर्हम् का जप करते हैं, अर्हम् की ध्वनि करते हैं। अर्हम् की ध्वनि केवल शब्द ही नहीं है। ध्येय सदा गुप्त रहता है। वह हमारे सामने नहीं होता। यदि ध्येय प्रकट हो या प्रकट हो जाए तो फिर ध्यान करने की कोई जरूरत ही नहीं रहती। ध्येय एक स्थूल रूप में हमारे सामने रहता है। हमेशा असिद्ध को सिद्ध करने का प्रयत्न होता है। तर्कशास्त्र में साध्य का लक्षण ही यह माना है कि 'असिद्धं साध्यम्'—जो असिद्ध है, वह साध्य है। यदि सिद्ध है तो वह साध्य नहीं बन सकता। उसको साधने की जरूरत नहीं होती। साध्य वह बनता है जो सिद्ध नहीं है, जो साधा नहीं गया है, जिसे साधना है। यदि अर्हत् हमारे सामने प्रकट हो, सिद्ध हो, तो उसे ध्येय बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। हम अर्हम् को ध्येय इसलिए बनाते हैं कि वह हमारे सामने प्रकट नहीं है, सिद्ध नहीं है, गुप्त है। उसे प्रकट करना चाहते हैं, सिद्ध करना चाहते हैं।

मंत्र का चुनाव ऐसा हो कि वह एक ही श्वास मे पूरा हो सके। मंत्र के साथ श्वास की लय जुड़ जानी चाहिए। श्वास के साथ उसका संबंध स्थापित हो जाना चाहिए। अर्हम् एक मंत्र-शब्द है। इसका उच्चारण एक श्वास में सहजता के साथ, आनन्द के साथ किया जा सकता है। कोई कठिनाई नहीं। लंबा उच्चारण करें तो भी एक श्वास में समाप्त हो जाता है

चुनाव भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। बड़े मंत्र भी हो सकते है। जैसे—णमो अरहताण, णमो सिद्धाणं-णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूणं—ये पाच पद हैं। बड़ा मंत्र है। बहुत कठिन है कि ये सारे पद, यह पूरा का पूरा मंत्र, एक ही श्वास में उच्चारित हो सके। उसका भी एक उपाय है। मंत्र यदि बड़ा हो तो उसके हिस्से कर लें। एक श्वास से एक हिस्से का उच्चारण करें। 'णमो अरहंताण'—इसका उच्चारण एक श्वास में सहजतया किया जा सकता है। 'णमो सिद्धाण'—इसका उच्चारण दूसरे श्वास मे किया जा सकता है। इस प्रकार पांच पदो का पाच श्वासो मे उच्चारण किया जा सकता है। पूरे मंत्र का जप पांच श्वासो मे किया जा सकता है। श्वास की बात ही पर्याप्त नहीं है। मंत्र-पद की श्वास के साथ लयबद्धता होनी चाहिए।

संगीतज्ञ साज-बाज के साथ गाता है। उस साज-बाज के साथ उसके लय की एकता हो जाती है। इसी प्रकार हमारे मंत्र-पद की श्वास के साथ एकता हो जानी चाहिए, लय जुड़ जानी चाहिए। श्वास के साथ जब मंत्र-पद की लय जुड़ जाती है तब एकाग्रता सहजभाव से निष्पन्न हो जाती है। फिर श्वास मे और मंत्र-पद के उच्चारण मे विसंगति नहीं रहती। बेमेलभाव नहीं रहता। तालमेल हो जाता है और तन्मयता आ जाती है। श्वास का प्रकंपन और ध्वनि का प्रकंपन, दोनों साथ मे जुड़ जाते हैं।

हम सब प्रकंपनों का जीवन जी रहे हैं। यदि कोई ऐसा कैमरा हो, दर्पण हो और हम उसके सामने खड़े होकर देखें और यदि देख सकें तो दिखाई देगा कि जो बाहर दीख रहा है वह तो स्थूल-सा है, कुछ नहीं है। सूक्ष्म रूप में सारा शरीर पुद्गलों का प्रकंपन मात्र है। तेज वर्षा होती है। पानी नीचे गिरता है। बुलबुले उठते हैं। पानी का एक बुलबुला उठा, वह फूटा। दूसरा उठा, वह फूटा। तीसरा उठा, वह फूटा। यह क्रम चलता रहता है। तेज वर्षा में बुलबुलों का नाच-सा होने लग जाता है। बुलबुले उठते हैं, फूटते हैं, विलीन हो जाते हैं। हमारा शरीर भी ऐसा ही है। परमाणु आ रहे हैं, जा रहे हैं, संघटित हो रहे हैं, विघटित हो रहे हैं। तरंगें ही तरंगें, तरंगें ही तरंगें। सारा शरीर तरंगों का, प्रकंपनों का, ऊर्मियों का एक पुलिन्दा है। अच्छा है कि उस स्थिति को देख पाने का कोई साधन नहीं है। इसीलिए हम मान रहे हैं कि शरीर ठोस है। ठोस है कहां? विज्ञान मानता है कि हमारा सारा दृश्य जगत् जिसे हम जानने-पहचानने

हैं। यदि इसे कूट-पीसकर एकत्रित किया जाए तो वह एक बॉल (गेंद) जितना ही होगा। सारा जगत् बॉल जितना ही होगा। केवल आप नहीं, हम नहीं, सारे पहाड़, नदी-नाले, सारे मकान, सारे बालूकण—सबको कूट-पीसकर एक कर लें तो उनका माप एक बॉल जितना ही होगा। ठोस बहुत कम है। केवल प्रकंपन। प्रकंपन ही प्रकंपन। शरीर ठोस लगता है, पर भीतर जाएं, भीतर की यात्रा करें तो लगेगा—सब कुछ पोल ही पोल है। ठोस अत्यन्त कम है। ऊपर चमड़ी आ गई। भीतर का दिखाई नहीं देता। एक आदमी को कूट-पीसकर एकत्रित कर दिया जाए तो संभव है परमाणु जितना भी न बने। सारा जगत् बॉल जितना है। ठोस नहीं है कुछ भी। केवल प्रकंपन ही प्रकंपन हैं। शरीर की तरंगें, श्वास की तरंगें, विचारों की तरंगें, ध्वनि की तरंगें—हम केवल तरंगों से घिरे हुए हैं। दर्शन की भाषा में कहें तो हम पर्यायों से घिरे हुए हैं। पर्याय ही पर्याय हैं। द्रव्य है कहां? द्रव्य है आत्मा। वह तो दीखता नहीं है। द्रव्य है पुद्गल। वह भी बहुत सूक्ष्म है। पर्यायों का चक्कर है सारा। तरंगें ही तरंगें। पर्याय ही पर्याय। प्रकंपन ही प्रकंपन। इन सारे प्रकंपनों के बीच में हम जी रहे हैं।

इन प्रकंपनों का ठीक उपयोग करें। उनकी शक्ति का उपयोग करें। ध्वनि की तरंगों का उपयोग करना हम सीखें। ध्वनि की तरंगों से उत्पन्न शक्ति को और विकसित करें। जब ध्वनि की तरंगें मन की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, शरीर की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं और श्वास की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, तब बहुत बड़ी शक्ति पैदा होती है।

४

मन को पटु बनाएं

हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं। उनमें सबसे स्थूल स्तर है इन्द्रिय। उससे सूक्ष्म है मन। उससे सूक्ष्म है बुद्धि और उससे सूक्ष्म है अध्यवसाय। इस प्रकार स्तर असंख्य हो सकते हैं। इतने स्तर हैं कि जिनका नामकरण नहीं किया जा सकता। चेतना के इन अनेक स्तरों में से हम गुजरते हैं और अनेक स्तरों में से हम जीते हैं।

इन्द्रियां बहुत स्थूल हैं, इसलिए वे हमारे लिए स्पष्ट हैं। मन की चेतना सूक्ष्म है इसलिए इन्द्रियों की अपेक्षा उसे समझना कठिन है। हम ध्यान करते हैं। उसका संबंध मन से है। इन्द्रियों का ध्यान से सीधा संबंध नहीं है। पहला संबंध मन से जुड़ता है। ध्यान एक प्रकार से मानसिक क्रिया है। ध्यान सचमुच बहुत ख़तरनाक है। यह कोई सीधी बात नहीं है। इससे बहुत बड़ा खतरा हो सकता है। जो लाभदायी होता है वह खतरनाक भी होता है। दुनिया में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो लाभदायी हो और ख़तरनाक न हो। जिससे बहुत बड़े लाभ की संभावना की जा सकती है, उसमें बहुत बड़े खतरे की भी संभावना होती है। हम यह साथ-साथ मानकर चलें कि ध्यान से बहुत बड़ा लाभ हो सकता है तो बहुत बड़ा खतरा भी हो सकता है। यदि हम ठीक प्रक्रिया को समझे बिना ध्यान करते हैं तो बहुत कठिनाइयां पैदा होती हैं। ध्यान के द्वारा एक विशेष ताप पैदा होता है, गर्मी पैदा होती है। यदि कोई उसे न सह सके तो वह पागल हो जाता है। इसीलिए ध्यान बहुत ही सोच-विचारकर, समझकर करना चाहिए। उसमें बहुत धीमे-धीमे गति पकड़नी चाहिए। यह नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए कि आज ही ध्यान करने बैठे और एक घंटा ध्यान कर लिया। एक घंटा तक ध्यान करने का अभ्यास करने के लिए लंबा समय बिताना पड़ता है। पहले दिन दो मिनिट ध्यान हो जाए तो बहुत बड़ी सफलता है। दो मिनिट का ध्यान छोटी बात नहीं है। यदि कोई व्यक्ति दो मिनिट तक केन्द्रित रह सके, एकाग्र रह सके, स्थिर रह सके, वह बड़ी सफलता है, उपलब्धि है। ऐसे लोग बहुत ही कम मिलेंगे जो वर्षों के प्रयत्न के बावजूद एक विषय पर दो मिनिट तक

लगातार एकाग्र रह सकें। वे बीच में ही विचलित हो जाते हैं। दो मिनिट तक मन में कोई व्यवधान न आए, विकल्प न आए, यह कम बात नहीं है।

हमारे मन में निरन्तर विकल्प उठते हैं, व्यवधान आते हैं। हम एक विचार को लेकर बैठते हैं। उस पर एकाग्र होने का प्रयत्न करते ही विभिन्न विकल्प और व्यवधान उत्पन्न हो जाते हैं। मन की चंचलता की स्थिति में इन व्यवधानों की कल्पना भी नहीं कर सकते। एकाग्र होते हैं तभी हमें पता लगता है कि विकल्पों का प्रवाह कितनी तेजी से बह रहा है और वह हमारी एकाग्रता में कितना व्यवधान उपस्थित कर रहा है। ध्यान बहुत ख़तरनाक है। वह पहले ही क्षण में या पहले ही दिन या शिविर के पहले ही आयोजन में सिद्ध हो जाता है, यह बात नहीं है। यह स्पष्ट मानकर चलना चाहिए कि अभी जो अभ्यास हो रहा है, वह मात्र अवधान का अभ्यास हो रहा है।

योग की भाषा में मन की तीन अवस्थाएं हैं—अवधान, एकाग्रता या धारणा और ध्यान। मनोविज्ञान भी इसी का संवादी विचार प्रस्तुत करता है। उसमें भी तीन अवस्थाएं मानी गई हैं—अटेन्शन, कॉन्सन्ट्रेशन और मेडिटेशन। अवधान, केन्द्रीकरण और ध्यान। ये मन की तीन अवस्थाएं हैं। मानसिक क्रियाएं इन तीन अवस्थाओं से गुजरती हैं।

पहली अवस्था है—अवधान, अटेन्शन। यह मन की वह क्रिया है जहां हम मन को किसी वस्तु के प्रति व्यापृत करते हैं, लगाते हैं। जो मन घूमता रहता है, उसे एक वस्तु के प्रति लगा देते हैं। वस्तु के प्रति मन को व्यापृत करना, मन को [illegible] बनाना—यह है अवधान की अवस्था। इसमें पदार्थ के साथ मन का सम्बन्ध जुड़ जाता है। यह है अवधान। हम कहते हैं—सावधान

उसी एक वस्तु में केन्द्रित कर देना कॉन्सन्ट्रेशन है, एकाग्रता या धारणा है। यह मन की धारणावस्था है। ध्यान से पहले धारणा करनी होती है। शरीर के किसी भी हिस्से में या किसी वस्तु में मन को स्थापित कर लेना, मन को आरोपित कर लेना, धारणा है। पतंजलि ने धारणा की यह परिभाषा की है—'देशबन्ध. चित्तस्य धारणा'—चित्त को किसी देश में बांध देना, किसी के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित कर देना कि वह उसी से बधा रहे, अन्यत्र न जाए—यह है धारणा की अवस्था।

मन की तीसरी अवस्था है—मेडिटेशन, ध्यान। अवधान के बाद धारणा और धारणा के बाद ध्यान। केन्द्रीकृत मन की जो सघन अवस्था है, वह है ध्यान, जहा कि मन स्थिर हो जाता है, जम जाता है। लबे समय तक मन जम जाता है, वह है ध्यानावस्था। वह है मेडिटेशन, ध्यान।

हमने तीन अवस्थाओ पर विचार किया। ध्यान तीसरी अवस्था है।

सबसे पहले अवधान का अभ्यास करना होगा। मन की वह स्थिति पैदा करनी होगी जो अवधान कर सके। मन बहुत ही गतिशील तत्त्व है। मन का काम ही है गति को बनाए रखना। वास्तव में यह उसका स्वभाव नही है। हम बिलकुल विपरीत दिशा मे जा रहे हैं। स्रोत के साथ चलना बहुत स्वाभाविक है। हर कोई स्रोत के साथ चल सकता है। नौका भी चलती है तो स्रोत के साथ चलती है। स्रोत के प्रतिकूल चलना बहुत ही कठिन काम है। जो स्रोत के प्रतिकूल चल सके, वह साधक है, साधना है। भगवान् महावीर ने कहा—

'अणुसोयपट्ठिएबहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेण।
पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं॥'

समूचा ससार स्रोत के पीछे चल रहा है। सारा समाज, सारी जनता स्रोत के पीछे चल रही है, प्रवाह के साथ-साथ चल रही है। ऐसी स्थिति मे प्रतिस्रोत मे चलना बहुत कठिन काम है। बहुत महत्त्व की बात आगे कही है—'अणुसोओ ससारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो'। अनुस्रोत अर्थात् स्रोत के पीछे चलना, इसी का नाम है ससार। स्रोत के पीछे चलना, यही है चचलता। स्रोत के साथ चलना, यही है अशाति। स्रोत के साथ चलना, यही है दुःख। स्रोत के प्रतिकूल चलना, यही है शाति, यही है स्थिरता, यही है उत्तारो—पार पा जाना। जो स्रोत के प्रतिकूल चलने की क्षमता रखता है वह सचमुच पार पा जाता है, पार चला जाता है। ध्यान की क्रिया प्रतिस्रोत की क्रिया है, स्रोत के प्रतिकूल चलने की क्रिया है। जो मन चचल है, गतिशील है, उसे केन्द्रित करना, अवहित करना या स्थिर करना—यह सारी विपरीत क्रिया है यानी जो मन का स्वभाव नहीं है उस स्वभाव मे मन को ले जाना और स्थापित कर देना। इससे समझा जा सकता है कि ध्यान कितनी कठोर क्रिया है। इसे बहुत सीधा और बहुत सरल न समझें।

ध्यान की जो एक विभीषिका है, उसे मैंने प्रस्तुत किया है। संभव है कुछ लोग इससे डर भी जाएं। वे ऐसा सोचें—इतनी कठोर साधना है ध्यान की, फिर हम उसे करने क्यों बैठे हैं? मैं ऐसा कहना नहीं चाहता कि आप वस्तु-स्थिति को समझें ही नहीं। आपके मन में भय पैदा हो जाएगा इसलिए मैं सत्य को छिपा दूं, पर मुझे मान्य नहीं है। इस भ्रान्ति को मैं पसन्द नहीं करता। मैं नहीं चाहता कि आप भ्रान्ति में रहें। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना होगा। ध्यान की साधना सचमुच कठिन है। यदि हम उसे सरल मानकर चलेंगे तो संभव है हमारे में भ्रान्ति पैदा हो जाए और हम ध्यान की स्थिति तक पहुंच ही न पाएं। यह आत्म-भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। हम ध्यान करते हैं, मूर्च्छा को तोड़ने के लिए। हम ध्यान करते हैं, प्रमाद को तोड़ने के लिए। यदि ध्यान के द्वारा नयी मूर्च्छा पैदा हो जाए, नयी भ्रान्ति पैदा हो जाए—यह कभी ईष्ट नहीं है। जिस असत्य को तोड़ने के लिए, जिस असत्य से दूर होने के लिए हम ध्यान करते हैं, यदि उसी ध्यान के सहारे एक नया असत्य जन्म ले ले—यह कभी वांछनीय स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए बहुत ही यथार्थवादी और वस्तुवादी होकर, वास्तविकता को समझकर, हमें ध्यान के मार्ग में प्रवेश करना होगा। हमें यह मानना होगा कि ध्यान एक लंबी साधना है, लंबी प्रक्रिया है। हम जल्दबाजी न करें कि वह जल्दी सिद्ध हो जाए। उसे सिद्ध करने के लिए जिस तैयारी की जरूरत है उसकी चर्चा 'किसको साधें ?' विषय के अन्तर्गत मैं कर चुका हूं। पूरी तैयारी के बिना, कुछेक चीजों को साधे बिना यदि हम ध्यान को सिद्ध करना चाहेंगे तो लाभ के बदले हानि की संभावना ही अधिक होगी।

न कर सके, उसका अनिष्ट न कर सके।

तैयारी हर किसी को करनी होती है। तैयार के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता। ध्यान के लिए भी पूर्व-तैयारी की जरूरत है। और उस तैयारी में शरीर का साधना जरूरी है। वैसे ही मानसिक तैयारी के लिए, सबसे पहले, अवधान का अभ्यास जरूरी है।

इसलिए आज ध्यान की चर्चा करने से पूर्व मैं इस विषय की चर्चा कर रहा हूं कि हम मन को पटु बनाएं, मन को कुशल बनाएं, मन को प्रशिक्षित करें। उसे इस प्रकार प्रशिक्षित करें कि उसकी क्षमता विकसित हो जाए और ध्यान की स्थिति तक पहुंचने की योग्यता संपादित हो जाए। अवधान योग्यता का संपादन है। मन को पटु बनाए बिना, मन की पटुता को संपादित या अर्जित किए बिना हम ध्यान की भूमिका तक नहीं पहुंच सकते इसलिए मन को पटु बनाना, कुशल बनाना बहुत ही जरूरी है। मन को पटु बनाने के लिए अनेक अभ्यास कराए जाते हैं। आसनों का अभ्यास इसलिए कराया जाता है कि शरीर पटु बन जाए। उसमें पटुता आ जाए। उसमें इतना लचीलापन आ जाए कि हम उसे जैसा चाहें वैसा मोड़ सकें। आसनों के द्वारा हमारी रीढ़ की हड्डी में इतना लचीलापन आ जाता है कि हम चाहें जैसे शरीर को मोड़ सकते हैं। जिसकी रीढ़ की हड्डी लचीली नहीं होती, वह शरीर को मोड़ नहीं सकता। शरीर में अकड़ रहती है। जैसे शारीरिक साधना के लिए रीढ़ की हड्डी को लचीली करने के आसन जरूरी हैं वैसे ही मानसिक साधना के लिए अवधान के विविध प्रयोग करना भी जरूरी है।

मन का संबंध है बाह्य विषय के साथ। मन को हम शिक्षित करें। उसके प्रशिक्षण का भी एक क्रम है। नंदी सूत्र में वह क्रम बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादित है।

पहला क्रम-युगल है—अल्पग्राही, बहुग्राही। ये दो चरण हैं। मन को हम एक कार्य में लगाएं जिससे कि वह एक बिन्दु को पकड़ सके, थोड़े को पकड़ सके या थोड़े काल तक किसी वस्तु को पकड़ सके। यह है अल्पग्राही। बहुग्राही अर्थात् बहुत को पकड़ना, बड़ी चीज को पकड़ना, लंबे काल तक पकड़े रखना।

हम प्रेक्षा करते हैं। शरीर की प्रेक्षा करते हैं। श्वास की प्रेक्षा करते हैं। सुझाव दिया जाता है कि नासाग्र पर आने-जाने वाले श्वास को देखो। श्वास के गम को देखो। श्वास के निर्गम को देखो। श्वास भीतर जाता है, उसे देखो। श्वास बाहर निकलता है, उसे देखो। नासाग्र पर केवल श्वास को देखो। मन को नासाग्र पर केन्द्रित करो, अवहित करो। मन के अवधान को नासाग्र पर टिकाओ और आते-जाते श्वास को देखो। जैसे द्वार पर खड़ा संतरी एक ही बात का ध्यान रखता है कि कौन भीतर आ रहा है और कौन बाहर जा रहा है? जब कोई

हमारे अनेक साधु-साध्वियां अवधान का प्रयोग करते हैं। लोगों को बहुत आश्चर्य लगता है। वे मानते हैं—चमत्कार है, दैवी शक्ति का निदर्शन है। यह कोई चमत्कार नहीं। कोई दैवी शक्ति नहीं। कोई दैवी विद्या नहीं। कोई बाहर की शक्ति नहीं। केवल मन का प्रशिक्षण है, मन की शक्ति है। इसी के आधार पर यह सारा होता है। चमत्कार-सा लगता अवश्य है, पर है मन की पटुता। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तीसरा चरण है—क्षिप्रग्राही, चिरग्राही। यह एक युगल है।

मन को ऐसा अभ्यास दिया जाता है कि वह बाह्य पदार्थ को तत्काल ग्रहण करे। सामने एक दृष्टि डाली और सब कुछ ग्रहण कर लिया। तत्काल ग्रहण कर लिया। कमरे को क्षणभर के लिए देखा। आंखें मूंद लीं। वह सब कुछ बता देगा। यह भींत है सफेद रंग की। सामने काले रंग का बोर्ड है। इतने पट्ट लगे हुए हैं। उन पर लाल अक्षर भी हैं, काले अक्षर भी हैं, नीले अक्षर भी हैं। इतने दरवाजे हैं। इतनी खिड़कियां हैं। पूरा का पूरा ब्योरा बता देता है। यह है क्षिप्रग्रहण। तत्काल ग्रहण कर लेना। एक ही दृष्टि में सारा पकड़ लेना।

हम मन की क्षमताओं से परिचित नहीं हैं। उसमें क्षमता बहुत है। हम बहुत कम जानते हैं। थोड़ा बहुत जानते हैं, उसमें भी आश्चर्य होता है। यदि हम पूरी क्षमता को जान लेते हैं, विकसित कर लेते हैं तो न मालूम क्या के क्या हो जाते हैं। आज मन की कुछेक क्षमताओं को विकसित कर मनुष्य भगवान् बन जाते हैं। दुनिया उन्हें भगवान् मान लेती है। अच्छा है। भगवान् बनना कोई बुरी बात नहीं है। अपने अन्दर में बैठे हुए अपने भगवान् को प्रकट करना बहुत अच्छी बात है। किन्तु दुनिया जल्दी भगवान् मान लेती है। मन का थोड़ा-सा कार्य सामने आता है, दुनिया भगवान् मान लेती है। पूरी क्षमता को हम जान लें, उसे साध लें, उसे [illegible] कर लें तब तो न जाने कितने भगवान् बन जाएं।

एक [illegible] है चिरग्राही। यह वह क्षमता है, जो तत्काल तो नहीं पकड़ पाती है। [illegible] धीरे-धीरे समय में पकड़ती है।

चौथा चरण है—अनिःसृतग्राही, निःसृतग्राही। यह एक युगल है।

[illegible] विशिष्ट क्षमता है। यह मन का ऐसा अभ्यास है, ऐसा [illegible] नहीं कर सकते। मैं इस विषय को एक [illegible]।

[illegible] में आया। संयोगवश उसके साथी [illegible]। [illegible] 'अनुभिज्ञता राजकुमार' [illegible] था। आज का समय नहीं था। [illegible] दे दिया। उसने [illegible] लिया। [illegible]—

महारानी का चित्र ! राजा स्तंभित रह गया। फिर एक बार ध्यान से देखा। जहां रानी के शरीर में तिल है वहां तिल है। जहां मस है वहां मस है। शरीर में जहां जो चिह्न हैं, वे सारे चिह्न चित्रगत रानी के शरीर पर हैं। चित्रकार ने सोचा था कि चित्र को देखकर राजा प्रसन्न होगा। पुरस्कार मिलेगा। पर उल्टा हो गया। राजा की भृकुटी तन गई। उसने सोचा—इस चित्रकार का रानी के साथ कोई गुप्त संबंध है, अन्यथा यह यथार्थ चित्र कैसे बना पाता ? राजा सदिग्ध हो गया। उसके मन में भ्रम पैदा हो गया। उसने चित्रकार और रानी दोनों को मृत्युदंड दे दिया।

मंत्री ने सोचा—देश का सबसे बड़ा चित्रकार और ऐसा चित्रकार कि देश या राष्ट्र को भाग्य से ही प्राप्त होता है, अभी मारा जाएगा। अनर्थ हो जाएगा। वह राजा के पास गया। बोला, 'महाराज ! आप क्या कर रहे हैं ? ऐसे कुशल चित्रकार की हत्या ? उसे मृत्युदंड !' राजा ने कहा—'तुम नहीं जानते। यह दुष्ट है, दुश्चरित्र है, अयोग्य है।' मंत्री ने कहा—'ऐसा नहीं, महाराज !' राजा ने कहा—'कैसी भोली बात कर रहे हो !' यदि इसका संबंध रानी के साथ नहीं होता तो यह यथार्थ चित्र कैसे बन पाता ? शरीर में कहां कौन-सा चिह्न है, शरीर को देखे बिना कैसे जाना जा सकता है ? मंत्री बोला—'महाराज ! इस चित्रकार के पास अद्भुत शक्ति है। यह शरीर के कोई भी अवयव को देखकर पूरा चित्र बना लेता है, वैसा का वैसा चित्र बना लेता है।'

राजा ने परीक्षा ली। चित्रकार उत्तीर्ण हुआ। उसे मृत्युदंड से मुक्त कर दिया।

यह है अनिसृतग्राही। थोड़ी-सी चीज के आधार पर समूची चीज का विश्लेषण कर देना।

एक दूसरी घटना है।

रोम के बादशाह ने भारत के राजा के पास सुरमा भेजा और कहलाया कि यह सुरमा बहुत ही मूल्यवान है, शक्तिशाली है। इससे अंधापन दूर होता है। अंधे की आंख में आंजने से वह देखने लग जाता है। बादशाह परीक्षा लेना चाहता था कि यहां कोई बुद्धिमान आदमी है या नहीं। यदि बुद्धिमान नहीं है तो उस देश को सरलता से जीता जा सकता है।

दूत सुरमा लेकर भारत आया। राजा के पास पहुंचा। बादशाह की सारी बात सुनाई। राजा ने सोचा—सुरमा थोड़ा है। किस-किसको दूं ? नगर में अंधे बहुत हैं। इतना-सा सुरमा है कि वह केवल दो आंखों को रोशनी दे सकता है, ज्योति दे सकता है। उसे अपने बूढ़े प्रधानमंत्री की स्मृति हो आयी। वह बहुत बुद्धिमान और दीर्घदर्शी था। वह अंधा हो गया था; अतः राज्य-कार्य से निवृत्त होकर घर पर ही समय बिता रहा था। राजा ने उसे बुला भेजा। प्रधानमंत्री

इतना प्रवृत्ति-बहुल है कि आज निवृत्ति की बात समझ में भी नहीं आती। निवृत्ति को इतना नकारा गया है कि मानो उसका कोई मूल्य नहीं है। उसे मूल्यहीन बना डाला। प्रवृत्ति का यह घर्षण चिनगारियां पैदा कर रहा है। प्रवृत्ति टकराव पैदा करती है, संघर्ष पैदा करती है। वर्तमान के संघर्ष का सबसे बड़ा कारण है, प्रवृत्ति को एकाधिकार देना। वर्तमान की अशांति का कारण है—क्रिया को ही मूल्य देना, अक्रिया के मूल्य का अनुभव न करना, 'न करने' का जो वास्तविक मूल्य है उसे अस्वीकृत कर देना। यह आज की सबसे बड़ी समस्या है।

आज मैं उल्टी बात कहने जा रहा हूं। प्रवृत्ति-बहुल युग में मुझे प्रवृत्ति का समर्थन करना चाहिए था किन्तु मैं वैसा नहीं करूंगा। प्रवृत्ति के विरोध में कुछ कहना, सुनने वालों को अच्छा नहीं लगता। किन्तु जो सत्य है उसे छिपाना भी नहीं चाहिए। सत्य सत्य है। उसकी अस्वीकृति से बहुत सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं और वे मनुष्य को आक्रान्त कर देती हैं। सच्चाई यह है कि या तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन हो या निवृत्ति का [illegible] मूल्यांकन किया जाए, तो [illegible] समाप्त [illegible]

५

न करने का मूल्य

एक आदमी बगीचे में गया। उसने देखा—लम्बे-लम्बे पेड़ खड़े हैं। उसने माली से कहा—'पेड़ बहुत लम्बे हो गए!' माली ने कहा—'बाबूजी! पेड़ों को और काम ही क्या है?'

सबसे पहले काम की बात हमारे ध्यान में आती है। पेड़ भी निकम्मे नहीं रहते। कोई भी पदार्थ निकम्मा नहीं रहता। वस्तु का लक्षण ही है—अर्थक्रियाकारित्व। वस्तु वह है, सत्य वह है जो अपनी क्रिया करता रहता है, कुछ न कुछ करता रहता है। जो कुछ भी नहीं करता वह सत् नहीं होता, पदार्थ नहीं होता। पदार्थ यानी कुछ करने वाला। करना पदार्थ के साथ जुड़ा हुआ है।

हम इस बात को जानते हैं, मानते हैं कि व्यक्ति को कुछ न कुछ करना चाहिए। पदार्थ भी कुछ न कुछ करता ही है। चेतन या अचेतन दोनों में कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है। हमने उस बात को पकड़ा है कि जो व्यक्ति कुछ करता है उसे हम पुरुषार्थी मानते हैं, कर्मठ मानते हैं, कर्मण्य मानते हैं। जो व्यक्ति कुछ नहीं करता उसे हम आलसी मानते हैं, निठल्ला मानते हैं, प्रमादी मानते हैं और अकर्मण्य मानते हैं। [illegible] इस बात पर दिया गया है कि मनुष्य को कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। जो करता है उसे आनन्द का अनुभव होता है कि मैं कुछ करता हूं और [illegible] का अनुभव होता है। जो कुछ नहीं करता उसे [illegible] का अनुभव होता है कि मैं कुछ नहीं करता। दूसरे लोग भी उसे [illegible] है, कुछ भी नहीं करता। निठल्ले के लिए दुनिया में कोई [illegible] कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। [illegible] का अर्थ [illegible] रहे। [illegible] का काम ही [illegible] [illegible], उसे पढ़ो, [illegible], उसे भरो, [illegible] कुछ न कुछ करते रहो। इस प्रकार [illegible] [illegible] आता [illegible]। न करने का भी [illegible] [illegible] रहता है। यह [illegible]

इतना प्रवृत्ति-बहुल है कि आज निवृत्ति की बात समझ में भी नहीं आती। निवृत्ति को इतना नकारा गया है कि मानो उसका कोई मूल्य नहीं है। उसे मूल्यहीन बना डाला। प्रवृत्ति का यह घर्षण चिनगारियां पैदा कर रहा है। प्रवृत्ति टकराव पैदा करती है, संघर्ष पैदा करती है। वर्तमान के संघर्ष का सबसे बड़ा कारण है, प्रवृत्ति को एकाधिकार देना। वर्तमान की अशांति का कारण है—क्रिया को ही मूल्य देना, अक्रिया के मूल्य का अनुभव न करना, 'न करने' का जो वास्तविक मूल्य है उसे अस्वीकृत कर देना। यह आज की सबसे बड़ी समस्या है।

आज मैं उल्टी बात कहने जा रहा हूं। प्रवृत्ति-बहुल युग में मुझे प्रवृत्ति का समर्थन करना चाहिए था किन्तु मैं वैसा नहीं कहूंगा। प्रवृत्ति के विरोध में कुछ कहना, सुनने वालों को अच्छा नहीं लगता। किन्तु जो सत्य है उसे छिपाना भी नहीं चाहिए। सत्य सत्य है। उसकी अस्वीकृति से बहुत सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं और वे मनुष्य को आक्रान्त कर देती हैं। सच्चाई यह है कि या तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन हो या निवृत्ति का यथार्थ मूल्यांकन किया जाए, तो संभव है बहुत सारी समस्याएं स्वयं समाप्त हो जाती हैं।

निवृत्ति का मूल्य प्रवृत्ति से कम नहीं है। 'न करने' का मूल्य करने से कम नहीं है। यदि यह बात समझ में आ जाए तो करना भी बहुत अर्थपूर्ण हो सकता है। कर्म के साथ दो दोष आते हैं, उनमें कमी आ सकती है। गीता में बहुत सुन्दर कहा है—'प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ दोष आता है। ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं है जिसके साथ दोष नहीं। जैसे ईंधन से जलने वाली अग्नि के साथ धुआं होना अनिवार्य है, वैसे ही प्रवृत्ति के साथ दोष अनिवार्य है।' 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' आरंभ मात्र दोष से आवृत्त है, जैसे अग्नि धुएं से। यह अनुभव वास्तविक है, सत्य तक पहुंचा हुआ है। प्रवृत्ति के साथ आने वाला दोष तभी समाप्त हो सकता है जबकि निवृत्ति का उसके साथ संतुलन हो। प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति चलती रहे। अन्यथा प्रवृत्ति के दोष इतने बढ़ जाते हैं कि वे मनुष्य को ही लील जाते हैं। इसलिए हम निवृत्ति का मूल्य समझें, अक्रिया का महत्त्व समझें और 'न करने' के जो महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं उनका अनुभव करें।

प्रवृत्ति का सबसे पहला साधन है—शरीर। शरीर की प्रवृत्तियों की चर्चा मैंने पहले की है। आज ठीक उससे उल्टी चर्चा मुझे करनी है। प्रवृत्ति से मुक्ति की चर्चा करनी है।

आप कायोत्सर्ग करें, काया का विसर्जन करें, शरीर को त्याग दें, जीते हुए भी मृतवत् अनुभव करें और शरीर को बिलकुल निष्क्रिय, निश्चेष्ट और प्रवृत्तिशून्य बनाएं। यह है कायगुप्ति, कायोत्सर्ग, काया का उत्सर्ग बहुत बड़ी बात है काया को छोड़ देना। मरने के बाद हर आदमी शरीर छोड़ देता है या वह छूट जाता है, किन्तु जीते-जी शरीर को छोड़ देना बहुत बड़ी साधना है। जब काया के

शरीर की सक्रियता न हो तो भीतर कुछ भी नहीं जा सकता। जितने भी परमाणु शरीर में प्रविष्ट होते हैं वे सारे के सारे शरीर की चंचलता के कारण प्रविष्ट होते हैं। तो कायगुप्ति है उस शारीरिक चचलता को मिटा देना, समाप्त कर देना। शरीर को इतना स्थिर बना देना कि शरीर स्वयं ध्यान बन जाए। आप यह न मानें कि केवल मन से ही ध्यान होता है। बहुत सारे योग के आचार्यों ने, विद्वानों ने केवल मानसिक क्रिया को ही ध्यान माना है। किन्तु जैन आचार्यों का मत इससे भिन्न है। उन्होंने ध्यान के तीन प्रकार बतलाए हैं—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। जैसे स्थिर मन ध्यान होता है वैसे ही स्थिर काया भी ध्यान होती है। शरीर का स्थिरीकरण भी ध्यान है।

ध्यान का शाब्दिक अर्थ होता है – चिन्तन करना। ध्येङ् चिन्तायाम्—इस धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। ध्यान का अर्थ हुआ चिन्तन करना। यह शाब्दिक अर्थमात्र है। शब्दों के अर्थ का विस्तार होता है, सकुचन होता है। जब शब्द के अर्थ का विस्तार होता है तब शब्द मूल अर्थ से बंधा हुआ नहीं रहता। यह ध्यान शब्द भी मूल अर्थ—'चिंतन करना' से बंधा हुआ नहीं रहा। इसका अर्थ व्यापक हो गया। इसका अर्थ हो गया—स्थिरीकरण, स्थिर करना। शरीर को स्थिर करना, वचन को स्थिर करना, मन को स्थिर करना। मन स्थिर होता है तो मानसिक ध्यान हो जाता है। वचन स्थिर होता है तो वाचिक ध्यान हो जाता है। शरीर स्थिर होता है तो कायिक ध्यान हो जाता है। कायिक ध्यान सब ध्यानों का मूल है। जब तक कायिक ध्यान नहीं होता तब तक न वाचिक ध्यान होता है और न मानसिक ध्यान होता है। मानसिक ध्यान तो हो ही नहीं सकता। काया की स्थिरता के बिना श्वास की स्थिरता नहीं हो सकती और श्वास की स्थिरता के बिना मन की स्थिरता नहीं हो सकती। मन को स्थिर करना हो तो श्वास को स्थिर करना होगा और श्वास को स्थिर करना हो तो काया को स्थिर करना होगा। इसलिए ध्यान के आधारभूत तत्त्वों में सबसे बड़ा तत्त्व है—काया की स्थिरता, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति।

मानसिक ध्यान तक पहुंचना बहुत ही कठिन बात है। कायिक ध्यान तक पहुंचना उसकी अपेक्षा सरल है। साधक के लिए पहला मार्ग यह है कि वह कायिक स्थिरता या शिथिलीकरण का अभ्यास करे। जिसने कायिक स्थिरता का अभ्यास कर लिया वह मानसिक स्थिरता तक पहुंचने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। शरीर को जो स्थिर नहीं बना सकता, वह मानसिक ध्यान में नहीं जा सकता। जिस व्यक्ति का शरीर तना हुआ है, जिसका मस्तिष्क तनाव से भरा हुआ है, जिसके ज्ञानतन्तु कसे हुए हैं, जिसकी मांसपेशियां कठोर हैं, वह मानसिक ध्यान में जा ही नहीं सकता। सबसे पहले शरीर को स्थिर करना होता है। पूरा

उपलब्धि मानता हूं। मैंने इसकी चर्चा शारीरिक मूल्य की दृष्टि से की है। इसका आध्यात्मिक मूल्य भी कम नहीं है।

सूत्रकृतांग सूत्र में एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि 'कर्म का क्षय कौन कर सकता है? हमारे जो जमे हुए संस्कार हैं उन संस्कारों को कौन मिटा सकता है?' इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा गया है—

'न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।'

अज्ञानी आदमी सोचते हैं कि प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को नष्ट करेंगे। संस्कार के द्वारा संस्कार को नष्ट करेंगे। वे भूल में हैं, वे अज्ञान में हैं, अंधकार में हैं। वे सचाई को नहीं जानते, वास्तविकता को नहीं जानते। प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को मिटाया नहीं जा सकता। संस्कार के द्वारा संस्कार को नहीं मिटाया जा सकता। प्रवृत्ति हमेशा रिपीट होती है। प्रवृत्ति हमेशा अनुदित होती है। प्रत्येक प्रवृत्ति संस्कार छोड़ जाती है। वह संस्कार हमें दूसरी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। हम दूसरी प्रवृत्ति करते हैं और वह प्रवृत्ति अपना संस्कार छोड़ जाती है। वह संस्कार हमें तीसरी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। यह चक्र चलता रहता है। इसका कहीं अन्त नहीं आता। प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति के चक्रव्यूह को नहीं तोड़ा जा सकता। यह बहुत प्रलम्ब शृंखला है। उसका कभी पार नहीं पाया जा सकता। तब प्रश्न होता है कि इसे कैसे तोड़ा जा सकता है? इन संस्कारों को कैसे समाप्त किया जा सकता है? जो संस्कार हमें प्रवृत्ति में लगाए रखते हैं, एक के बाद एक नया संस्कार निर्मित होता है और वह विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रेरक बनता है, उसे कैसे तोड़ा जा सकता है? उत्तर में कहा गया—'अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा'—जो ज्ञानी हैं, सचाई को समझते हैं, अंधकार को चीरकर प्रकाश में आ गए हैं, जिन्हें वास्तविकता का बोध है, वे जानते हैं कि अकर्म के द्वारा कर्म को क्षीण किया जा सकता है। अकर्म यानी निवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है।

प्रवृत्ति नहीं की, पुराना संस्कार उभरा किन्तु उसे नहीं दोहराया, संस्कार शिथिल हो गया। फिर उभरा, दोहराया नहीं तो और शिथिल हो गया। संस्कार उभरता है और यदि उसे दोहराया नहीं जाता तो वह टूट जाता है, नष्ट हो जाता है।

अतिथि आया। उसे सत्कार मिला। वह फिर आया और फिर उसे सत्कार मिला तो वह फिर आएगा। वह सोचता है—अच्छा है, आतिथ्य मिलता है और सत्कार भी मिलता है। वह आता रहता है।

अतिथि आया। उसे सत्कार नहीं मिला। उसकी उपेक्षा हुई। कोई ढीठ होता है तो दूसरी बार आ जाता है। फिर उपेक्षा हुई, तो वह तीसरी बार नहीं

आता। वह सोचता है—जहां तिरस्कार है, वहां क्यों जाएं? वह नहीं आता।

यही क्रम है संस्कार का। संस्कार उभरता है और यदि उसे वहां स्थान मिल जाता है तो वह जमने लग जाता है। फिर वह अतिथि रहना नहीं चाहता, घर का सदस्य ही बन जाता है। फिर उसे वहां से हटाना कठिन हो जाता है। यदि उभरने वाले संस्कार को स्थान नहीं मिलता, उपेक्षा की जाती है, उसे दोहराया नहीं जाता, उसका तिरस्कार होता है तो वह धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है। एक बार वह अनुभव होता है तिरस्कार का, दूसरी और तीसरी बार भी यदि यही अनुभव होता है तो वह संस्कार फिर नहीं उभरना चाहता, वह क्षीण हो जाता है, नष्ट हो जाता है। सत्कार से वह उभरता है, बार-बार आता है और तिरस्कार से वह क्षीण होता है, नष्ट होता है। होते-होते संस्कार मिट जाता है। न वह घर का सदस्य ही रह पाता है और न अतिथि बनकर ही कभी घर का द्वार देखता है।

में टेलीपैथी शब्द नहीं था। यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय प्रचलित शब्द था—*विचार-सम्प्रेषण। इसका अर्थ है—यहां बैठे-बैठे अपने विचारों को हजारों* कोस दूर भेज देना। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पात्र हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे? आधुनिक साधन तो थे नहीं उस समय। किन्तु उस समय विचार-सम्प्रेषण की साधना की जाती थी। इस साधना में निष्णात व्यक्ति ध्यान की मुद्रा में बैठता और अपने विचारों की तरंगों को निर्दिष्ट दिशा में सम्प्रेषित करता। विचार की तरंगें शक्तिशाली होकर वहां पहुंच जाती, जहां साधक उन्हें पहुंचाना चाहता। वहां के व्यक्ति का दिमाग रिसीवर का काम करता। वह उन तरंगों को पकड़ लेता और उनके माध्यम से जान लेता कि कौन क्या कहना चाहता है। फिर यदि उसे उत्तर देना होता तो वह स्वयं ध्यानस्थ होता, ध्यान करने बैठता और विचारों की तरंगों को गुरु या ईष्ट व्यक्ति के पास पहुंचा देता। विचार जान लिये जाते। यह प्रक्रिया थी बातचीत करने की। यह माध्यम था विचारसम्प्रेषण का। इसके लिए मानसिक क्षमता के विकास की जरूरत होती थी। साधक मानसिक क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे।

हमने बोलने की बहुत आदत डालकर मानसिक क्षमता को कमजोर किया है, गवाया है। आज मानसिक क्षमता को विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। इसके भी दो कारण हैं। एक तो हमने बोलने को प्राथमिकता दे दी। बोलने का कुछ काम पत्राचार से करने लगे। आज तो संचार के इतने साधन विकसित हो चुके हैं कि उसके लिए मानसिक क्षमता की कोई जरूरत ही महसूस नहीं होती। बोलने की जरूरत तब ज्यादा महसूस होती है जब मानसिक क्षमता से हमारा विश्वास उठ जाता है। यदि हम न बोलकर अपनी मानसिक क्षमता को विकसित करें तो ऐसा भी हो सकता है कि बिना कहे भी बात समझ में आ सकती है। 'गुरोस्तु मौन व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः'—जिस गुरु की आत्म-शक्ति प्रबल होती है, वह मौन बैठता है। शिष्य आते हैं नाना प्रकार के संदेह लेकर। गुरु के पास बैठते हैं। गुरु की सन्निधि प्राप्त करते हैं। उनके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उनका समाधान हो जाता है। उनको अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वहां मन की भाषा चल रही है। मन अपना काम करता है, संदेह मिट जाता है। काम समाप्त हो जाता है। दिगम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते नहीं। श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते हैं। मैं शास्त्रीय चर्चा में नहीं जाऊंगा। दिगम्बर कहते हैं—तीर्थंकर बोलते नहीं। केवल ध्वनि निकलती है। इसमें मुझे वैज्ञानिकता लगती है। बहुत वैज्ञानिक बात है यह। वे बोलते नहीं किन्तु जो कहना चाहते हैं वह सब कुछ सब तक पहुंच जाता है। यहां कोरी ध्वनि होती है, भाषा नहीं होती। किन्तु जितने लोग बैठे होते हैं,

नेता और उद्योगपति अपने-अपने स्वार्थों को गौण कर सकें और यह तथ्य समझ सकें कि प्रवृत्ति की सीमा होनी चाहिए और साथ-साथ निवृत्ति का मूल्यांकन होना चाहिए, तो मैं मानता हूं कि मनुष्य की चेतना सही दिशा में प्रवाहित होने लगेगी, स्वस्थ रहेगी और सही दिशा में विकसित होगी।

आज का संघर्ष चेतना और पदार्थ का संघर्ष है। आज पदार्थ प्रमुख होता जा रहा है, चेतना उसके आवरण में छिपती जा रही है, जबकि होना यह चाहिए था कि चेतना विकसित रहे और पदार्थ उसका अनुगामी रहे। यदि यह नहीं होता है तो कम से कम दोनों का संतुलन अवश्य ही बना रहना चाहिए। किन्तु आज उल्टा हो रहा है। उसके दुःखद परिणाम आज भी विश्व भोग ही रहा है।

इसलिए हम कायगुप्ति के मूल्य को समझें। उसका बहुत बड़ा मूल्य है। साधना का भी बहुत बड़ा मूल्य है।

लोग शिविर में आते हैं, दस दिन के लिए, बीस दिन के लिए और अधिक लम्बा हो तो तीस दिन के लिए। उनको लगता होगा कि निकम्मे बैठे हैं। कोई काम नहीं करना पड़ता। समय निकम्मा बीतता है। शिविर निठल्लापन सिखाता है—यह अनुभव होता होगा। जो बहुत काम करने वाले लोग हैं, प्रवृत्ति में अतिरिक्त विश्वास करने वाले लोग हैं, उनको तो लगता होगा कि शिविर में दिन निकम्मा बीतता है। इससे निठल्ला समाज बनेगा। मैं समझता हूं कि यह चिन्तन यथार्थ नहीं है। ऐसा चिन्तन नहीं होना चाहिए। प्रवृत्तिमय जीवन तो हम बिता ही रहे हैं, पर निवृत्ति को भी हम समझें, निवृत्ति का मूल्यांकन करें और प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सन्तुलन स्थापित करें—यह आवश्यक है। इस दिशा में हमारी गति हो तो शिविर की बहुत बड़ी उपयोगिता है। यदि शिविर में अकर्म का वास्तविक अभ्यास कर सकें और उसकी यथार्थता का मूल्यांकन कर सकें तो मैं इसकी बहुत बड़ी सार्थकता मानता हूं, धन्यता का अनुभव नहीं करता। हमारे जीवन का विराम अकर्म के क्षणों में होता है। जो आदमी निरन्तर व्यस्त रहता है वह ज्ञान की बड़ी उपलब्धि नहीं कर सकता। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से प्रकृति की यह व्यवस्था है कि दिन में जागो और रात में सोओ। जितना काम करो, उतना विश्राम भी करो। आदमी इन नियमों को भी तोड़ता जा रहा है। जो सोने का समय है, उसका भी अतिक्रमण करता जा रहा है। पुराने जमाने में इस प्रकार के अतिक्रमण करने वाले को निशाचर कहा जाता था। जो रात में काम करता है, रात में घूमता है, चलता फिरता है और रात में खाता है, उसे निशाचर कहा जाता है। निशाचर यानी राक्षस। इनका परिभ्रमण रात में ही होता है। आज का आदमी भी निशाचर बन गया है। वह रात में खाता-पीता है, रात में काम करता है, रात में ही आता-जाता है। जीवन का सारा क्रम ही बदल गया है किन्तु शारीरिक व्यवस्था की दृष्टि से, स्नायविक व्यवस्था की दृष्टि से और आयुर्वेदिक

विज्ञान की दृष्टि से और निवृत्ति से होने वाली प्रवृत्ति की समीचीनता की दृष्टि से विचार किया जाए तो हम इसे अस्वीकार नहीं करेंगे कि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सन्तुलन होना चाहिए, कर्म के साथ अकर्म का सन्तुलन होना चाहिए। कर्म इतना नहीं होना चाहिए कि जिससे अकर्म लुप्त हो जाय तथा कर्म का दोष इतना हावी हो जाय कि वह मानवीय चेतना को आवृत कर दे, ढांक दे। आचारांग सूत्र में कहा गया है—'अकम्मे जाणइ'—जो अकर्म होता है वह जानता-देखता है। आपने पढ़ा होगा कि वैज्ञानिकों को बड़ी उपलब्धियां उन क्षणों में हुई हैं जबकि वे निश्चित और निष्क्रिय बैठे थे। काम करते-करते बहुत कम लोगों को बड़ी उपलब्धियां मिली हैं। इन्ट्यूशन—आंतरिक बोध, आंतरिक शक्ति—का जो विकास हुआ है, कोई बड़ी बात सूझी है तो वह उन्हीं क्षणों में सूझी है, जब आदमी अकर्म और निश्चिन्त बैठा हो। निष्क्रियता स्वयं में बहुत बड़ी उपलब्धि है। निष्क्रियता का अर्थ है—बाहर से निकम्मा और भीतर से सक्रिय। निष्क्रियता का अर्थ निठल्लापन नहीं है। एक आदमी बाहर से सक्रिय और भीतर से निष्क्रिय होता है। एक आदमी बाहर से निष्क्रिय और भीतर से सक्रिय होता है। हम भीतरी जगत में सक्रिय और बाह्य जगत में निष्क्रिय रहने वाले आदमी को निकम्मा मान लेते हैं, यह बहुत बड़ी भूल है। निठल्ला वह होता है जो बाहर से भी निष्क्रिय और भीतर से भी निष्क्रिय है। वह मूर्च्छा में है, अज्ञान में है, प्रमाद में है। वह निकम्मा है, निठल्ला है। किन्तु जो व्यक्ति बाहर से निष्क्रिय होकर बैठा है और भीतर में ज्योति जल रही है, भीतर में आग जल रही है, चेतना [illegible] रहा है वह निकम्मा और निठल्ला नहीं है। किन्तु वह सक्रिय

में टेलीपैथी शब्द नहीं था। यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय प्रचलित शब्द था—विचार-सम्प्रेषण। इसका अर्थ है—यहां बैठे-बैठे अपने विचारों को हजारों कोस दूर भेज देना। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पांच हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे? आधुनिक साधन तो थे नहीं उस समय। किन्तु उस समय विचार-सम्प्रेषण की साधना की जाती थी। इस साधना में निष्णात व्यक्ति ध्यान की मुद्रा में बैठता और अपने विचारों की तरंगों को निर्दिष्ट दिशा में सम्प्रेषित करता। विचार की तरंगें शक्तिशाली होकर वहां पहुंच जातीं, जहां साधक उन्हें पहुंचाना चाहता। वहां के व्यक्ति का दिमाग रिसीवर का काम करता। वह उन तरंगों को पकड़ लेता और उनके माध्यम से जान लेता कि कौन क्या कहना चाहता है। फिर यदि उसे उत्तर देना होता तो वह स्वयं ध्यानस्थ होता, ध्यान करने बैठता और विचारों की तरंगों को गुरु या ईष्ट व्यक्ति के पास पहुंचा देता। विचार जान लिये जाते। यह प्रक्रिया थी बातचीत करने की। यह माध्यम था विचारसम्प्रेषण का। इसके लिए मानसिक क्षमता के विकास की जरूरत होती थी। साधक मानसिक क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे।

हमने बोलने की बहुत आदत डालकर मानसिक क्षमता को कमजोर किया है, गंवाया है। आज मानसिक क्षमता को विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। इसके भी दो कारण हैं। एक तो हमने बोलने को प्राथमिकता दे दी। बोलने का कुछ काम पत्राचार से करने लगे। आज तो संचार को इतने साधन विकसित हो चुके हैं कि उसके लिए मानसिक क्षमता की कोई जरूरत ही महसूस नहीं होती। बोलने की जरूरत तब ज्यादा महसूस होती है जब मानसिक क्षमता से हमारा विश्वास उठ जाता है। यदि हम न बोलकर अपनी मानसिक क्षमता को विकसित करें तो ऐसा भी हो सकता है कि बिना कहे भी बात समझ में आ सकती है। 'गुरोस्तु मौन व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः'—जिस गुरु की आत्म-शक्ति प्रबल होती है, वह मौन बैठता है। शिष्य आते हैं नाना प्रकार के संदेह लेकर। गुरु के पास बैठते हैं। गुरु की सन्निधि प्राप्त करते हैं। उनके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उनका समाधान हो जाता है। उनको अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वहां मन की भाषा चल रही है। मन अपना काम करता है, संदेह मिट जाता है। काम समाप्त हो जाता है। दिगम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते नहीं। श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते हैं। मैं शास्त्रीय चर्चा में नहीं जाऊंगा। दिगम्बर कहते हैं—तीर्थंकर बोलते नहीं। केवल ध्वनि निकलती है। इसमें मुझे वैज्ञानिकता लगती है। बहुत वैज्ञानिक बात है यह। वे बोलते नहीं किन्तु जो कहना चाहते हैं वह सब कुछ सब तक पहुंच जाता है। यहां कोरी ध्वनि होती है, भाषा नहीं होती। किन्तु जितने लोग बैठे होते हैं,

की दिया—यह आत्मा का प्रतिबिम्ब है। यह एक दर्पण है जिसमें आत्मा को झांका जा सकता है, देखा जा सकता है। इस प्रतिबिम्ब के द्वारा हम आत्मा को पकड़ सकते हैं। आत्मा का स्वरूप है जानना, देखना। केवल जानना और देखना। जो जानता है, देखता है, और कुछ नहीं करता, वह आत्मा को पकड़ लेता है। आत्मा को पकड़ने का सशक्त माध्यम है—ज्ञान और दर्शन, जानना और देखना। केवल जानना और देखना। उसके साथ कुछ भी नहीं जोड़ना। यदि आपने उसके साथ कुछ जोड़ दिया तो फिर मन की परिधि में चले जाने लगेंगे।

आप एक फूल को देख रहे हैं किन्तु उसकी भीनी सुगन्ध में आपका मन लुब्ध हो गया। आपके मन में आकर्षण पैदा हो गया। आपका जानना, देखना, मन की सीमा में चला गया। फिर जो है वैसा नहीं जान रहे हैं किन्तु प्रियता को जान रहे हैं। आप उसके आकर्षण से बंध गए और आपका जानना समाप्त हो गया। हम सदा जानने-देखने की सीमा में नहीं रहते, दूसरी बातों से बंध जाते हैं। जहां बंधना होता है वहां हम आत्मा से दूर चले जाते हैं। जब कोरा जानना-देखना होता है, वही शेष रहता है, जब हम शब्दों से ऊपर उठ जाते हैं, हमें आत्मा की झलक दिखाई दे जाती है और वही झलक निर्विचारता की ओर प्रेरित करती है। निर्विचारता की स्थिति आत्मा की झलक पाए बिना नहीं हो सकती। आत्म-दर्शन के बिना नहीं हो सकती।

पिंडस्थ ध्यान में शरीर ध्येय बनता है। पदस्थ ध्यान में शब्द ध्येय बनता है। रूपस्थ ध्यान में आकार ध्येय बनता है। इन सब ध्यानों में ध्येय है। चौथा ध्यान है—रूपातीत ध्यान। जहां रूपातीत, भावातीत स्थिति प्राप्त होती है वहां कोई ध्येय नहीं बनता। चिन्तन का ध्यान ध्यान है और निर्विचारता वास्तव में समाधि है।

जैन परम्परा में दो शब्द प्रचलित हैं—ध्यान और सामायिक। सामायिक भी ध्यान है किन्तु इस ध्यान से वह भिन्न है। क्योंकि ध्यान में दूसरे से सम्बन्ध होता है। जैसे ही मैं कहूं कि ध्यान करो, प्रश्न होगा कि किसका ध्यान करें? कैसे करें? कहां करें? कौन करे? ध्याता अलग हो जाता है, ध्येय अलग हो जाता है, ध्यान की पद्धति अलग हो जाती है, ध्यान का साधन अलग हो जाता है। ये सारे कर्ता, कर्म, आधार आदि अलग-अलग खड़े हो जाते हैं। आप पूछेंगे कि किसका ध्यान करें? बताना होगा कि अर्हम् का ध्यान करें या अमुक आकृति का ध्यान करें, अमुक शब्द का ध्यान करें। ध्येय बताना होगा। जब तक ध्येय नहीं बताया जाएगा, आप ध्यान नहीं कर सकेंगे। किन्तु निर्विचारता की स्थिति में ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। दूसरा समाप्त हो जाता है। दूसरा कोई भी नहीं रहता। वहां ध्याता अलग नहीं रहता। ध्यान अलग नहीं रहता। अलग नहीं रहता। वही ध्याता, वही ध्यान, वही ध्येय, [illegible]

की क्रिया—यह आत्मा का प्रतिबिम्ब है। यह एक दर्पण है जिसमें आत्मा को झांका जा सकता है, देखा जा सकता है। इस प्रतिबिम्ब के द्वारा हम आत्मा को पकड़ सकते हैं। आत्मा का स्वरूप है जानना, देखना। केवल जानना और देखना। जो जानता है, देखता है, और कुछ नहीं करता, वह आत्मा को पकड़ लेता है। आत्मा को पकड़ने का सशक्त माध्यम है—ज्ञान और दर्शन, जानना और देखना। केवल जानना और देखना। उसके साथ कुछ भी नहीं जोड़ना। यदि आपने उसके साथ कुछ जोड़ दिया तो फिर मन की परिधि में चले जाने लगेंगे।

आप एक फूल को देख रहे हैं किन्तु उसकी भीनी सुगन्ध में आपका मन लुब्ध हो गया। आपके मन में आकर्षण पैदा हो गया। आपका जानना, देखना, मन की सीमा में चला गया। फिर जो है वैसा नहीं जान रहे हैं किन्तु प्रियता को जान रहे हैं। आप उसके आकर्षण से बंध गए और आपका जानना समाप्त हो गया। हम सदा जानने-देखने की सीमा में नहीं रहते, दूसरी बातों से बंध जाते हैं। जहां बंधना होता है वहां हम आत्मा से दूर चले जाते हैं। जब कोरा जानना-देखना होता है, वही शेष रहता है, जब हम शब्दों से ऊपर उठ जाते हैं, हमें आत्मा की झलक दिखाई दे जाती है और वही झलक निर्विचारता की ओर प्रेरित करती है। निर्विचारता की स्थिति आत्मा की झलक पाए बिना नहीं हो सकती। आत्म-दर्शन के बिना नहीं हो सकती।

पिंडस्थ ध्यान में शरीर ध्येय बनता है। पदस्थ ध्यान में शब्द ध्येय बनता है। रूपस्थ ध्यान में आकार ध्येय बनता है। इन सब ध्यानों में ध्येय है। चौथा ध्यान है—रूपातीत ध्यान। जहां रूपातीत, भावातीत स्थिति प्राप्त होती है वहां कोई ध्येय नहीं बनता। चिन्तन का ध्यान ध्यान है और निर्विचारता वास्तव में समाधि है।

जैन परम्परा में दो शब्द प्रचलित हैं—ध्यान और सामायिक। सामायिक भी ध्यान है किन्तु इस ध्यान से वह भिन्न है। क्योंकि ध्यान में दूसरे से सम्बन्ध होता है। जैसे ही मैं कहूं कि ध्यान करो, प्रश्न होगा कि किसका ध्यान करें? कैसे करें? कहां करें? कौन करे? ध्याता अलग हो जाता है, ध्येय अलग हो जाता है, ध्यान की पद्धति अलग हो जाती है, ध्यान का साधन अलग हो जाता है। ये सारे कर्ता, कर्म, आधार आदि अलग-अलग खड़े हो जाते हैं। आप पूछेंगे कि किसका ध्यान करें? बताना होगा कि अर्हम् का ध्यान करें या अमुक आकृति का ध्यान करें, अमुक शब्द का ध्यान करें। ध्येय बताना होगा। जब तक ध्येय नहीं बताया जाएगा, आप ध्यान नहीं कर सकेंगे। किन्तु निर्विचारता की स्थिति में ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। दूसरा समाप्त हो जाता है। दूसरा कोई भी नहीं रहता। वहां ध्याता अलग नहीं रहता। ध्यान अलग नहीं रहता। ध्येय अलग नहीं रहता। वही ध्याता, वही ध्यान, वही ध्येय, वही ध्यान का साधन

'इस दुनिया में जीना और दुःख का न होना—कैसी बात करते हो ? कौन आदमी ऐसा होगा इस दुनिया में जो जीता है और दुःख का अनुभव नहीं करता ! मैं तो बहुत दुःखी हूं। मेरे पास धन बहुत है। लड़का नहीं है। क्या यह दुःख नहीं है ? बहुत बड़ा दुःख है।'

उसने कहा—'नहीं चाहिए तुम्हारा अंगरखा।'

वह दूसरे घर में गया। पूछा—'तुम्हें कोई दुःख तो नहीं है ?' गृहस्वामी बोला—'दुःख पूछते हो ! यह टूटा-फूटा मकान। ये टूटे-फूटे बरतन। ये फटे-पुराने कपड़े। फिर भी पूछते हो कि दुःख है या नहीं ? मैं अत्यन्त दुःखी हूं।'

उसने सोचा—बड़ा घर देखकर गया तो वहां भी दुःख है और छोटा घर देखकर गया तो वहां भी दुःख है।'

वह तीसरे घर में गया। पूछा—'तुम्हें कोई दुःख तो नहीं है ?' उसने कहा—'परिवार हो और दुःख न हो—यह कैसे सम्भव है ? आए दिन पत्नी से झगड़ा होता है, कलह होती है। मैं दुःखी हूं।'

वह वहां से चला। घूमता गया, घूमता गया। बहुत घूमा। दिनों तक, महीनों तक घूमता रहा। गांव-गांव में अलख जगा दी। उसका संकल्प था कि अंगरखा पाना है और दुःख से परे होना है। घूमते-घूमते थक गया। निराश हो गया। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला कि जो कह सके कि मैं दुःखी नहीं हूं। धनवान दुःखी है। गरीब दुःखी है। संतान वाला दुःखी है। निःसंतान दुःखी है। सभी दुःखी हैं। वह थक गया। हैरान हो गया। असफल होकर वह गुरु के पास आया और बोला—'महाराज ! अंगरखा नहीं मिला। मैं तो सोचता था कि एक ही दिन में सफल हो जाऊंगा। परन्तु मैंने महीनों तक खाक छान डाली। अन्त में असफल होकर आपके पास आया हूं। एक भी आदमी ऐसा नहीं मिला जो कह सके कि वह सुखी है और मैं उसका अंगरखा पहनकर दुःख से छुटकारा पा सकूं।'

गुरु ने कहा—'कितने मूर्ख हो तुम ! नहीं जानते सचाई को, कि जो इस दुनिया में जन्म लेता है वह दुःखों से कभी मुक्त नहीं रह सकता।'

उसने कहा—'महाराज ! आप इस सचाई को जानते थे तो मुझे व्यर्थ ही क्यों भटकाया ? पहले ही दिन यह बात बता देते। आपने ही तो मुझे महीनों तक भटकाया है। आपने ऐसा क्यों किया ?'

गुरु ने कहा—'सत्य अनुभव होता है। परिश्रम के बिना सत्य पच नहीं सकता। यदि मैं पहले ही बता देता कि इस दुनिया में जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति दुःख से बच नहीं सकता, दुःख से मुक्त नहीं हो सकता, तो यह सचाई तुम्हारी समझ में नहीं आती। अब तुम जगह-जगह घूम आए हो, घूम भटक चुके हो। अब यह सचाई सहजतया समझ में आ सकती है कि इस दुनिया में कोई व्यक्ति दुःख से असंपृक्त रह नहीं सकता। यह सब इतना सरल

करना है। हर कर्म या प्रवृत्ति शक्ति को क्षीण करती है। शरीर का कर्म, वाणी का कर्म, मन का कर्म या चिन्तन का कर्म—प्रत्येक कर्म शक्ति का ह्रास करता है। शरीरशास्त्री बतलाते हैं कि प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ हमारे शरीर में विष पैदा होता है, शक्ति क्षीण होती है। जो आदमी बहुत सोचता रहता है, उसके बीमारियां पैदा हो जाती हैं, मानसिक विकृतियां पैदा हो जाती हैं। जो बुद्धिजीवी लोग हैं, उनकी शक्ति ज्यादा क्षीण होती है। वे पेट की बीमारी से ग्रस्त हो जाते हैं। उनकी आंखें खराब हो जाती हैं। इसका कारण है अधिक चिन्तन, अधिक सोचना। चिन्तन शरीर का धर्म हो सकता है। जो शरीर का धर्म होगा, उसकी एक सीमा होगी। सीमा से ज्यादा प्रयत्न भी हानिकारक होता है।

अचिन्तन शरीर का धर्म नहीं है। अचिन्तन शब्द और रूप का कार्य नहीं है। वह आत्मा का धर्म है, स्वभाव है। जो स्वभाव होता है उससे शक्ति क्षीण नहीं होती। अचिन्तन हमारा स्वभाव है। हम अचिन्तन के क्षणों में जितने रहेंगे, शक्ति क्षीण नहीं होगी। उसमें शक्ति बढ़ेगी। चिन्तन में ऊर्जा समाप्त होती है। क्योंकि चिन्तन के लिए ऊर्जा चाहिए ईंधन चाहिए। जिसे ईंधन की जरूरत होती है, वहां ईंधन समाप्त भी होता है। अचिन्तन के लिए प्राणिक ऊर्जा की जरूरत नहीं होती। अचिन्तन के लिए ईंधन की भी कोई जरूरत नहीं है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है, अखण्ड चेतना का सहज धर्म है। यह जानने और देखने की स्थिति है। इसमें कोई शक्ति खर्च नहीं होती। हम [illegible] अपने मूल स्वभाव में होते हैं।

गए। राज्य का भार लड़के को सौंप दिया। वह छोटा था। छोटे कंधों पर राज्य का बृहद् भार। शत्रुओं ने आक्रमण किया है। वे राज्य को नष्ट करने लगे हैं। इतने-से शब्द थे। कोई घटना नहीं थी। राजर्षि ने सुना। शब्दों ने इतना प्रभावित किया कि राजर्षि ध्यान में खड़े-खड़े लड़ने में लीन हो गए। युद्ध प्रारंभ हो गया। वे शत्रुओं को परास्त करने लग गए। इतने में ही दूसरा आदमी आया और ध्यानस्थ राजर्षि को देखकर बोला—'कितने बड़े ध्यानी हैं। कितने महान साधक हैं। अचल ध्यान-मुद्रा में खड़े हैं। धन्य है, धन्य है, धन्य है!' राजर्षि ने इतना-सा सुना। चेतना मुड़ी। युद्ध-भूमि से ध्यान-भूमि में आ गए। फिर ध्यान की धारा अखंड रूप से प्रवाहित होने लगी।

शब्दों की परिधि में चलने वाला ध्यान शब्द से प्रभावित होता है। ध्यान करने वाला कभी लड़ाई लड़ने लग जाता है और कभी आत्म-साधना की बात सोचने लग जाता है। वह रूप से भी प्रभावित हो जाता है।

अचिन्तन की स्थिति में जाने वाला, सामायिक में रहने वाला, अपनी आत्मा में स्थित रहने वाला न शब्द से प्रभावित होता है और न रूप से प्रभावित होता है। उसमें न शरीर का अध्यास होता है, न जीवन की आकांक्षा होती है और न मृत्यु का भय होता है। वह सबसे परे हो जाता है। वह सभी के गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर आत्मा के उस अंतरिक्ष में चला जाता है जहां भार की कोई अनुभूति नहीं होती।

गए। राज्य का भार लड़के को सौंप दिया। वह छोटा था। छोटे कंधों पर राज्य का बृहद् भार। शत्रुओं ने आक्रमण किया है। वे राज्य को नष्ट करने लगे हैं। इतने-से शब्द थे। कोई घटना नहीं थी। राजर्षि ने सुना। शब्दों ने इतना प्रभावित किया कि राजर्षि ध्यान में खड़े-खड़े लड़ने में लीन हो गए। युद्ध प्रारंभ हो गया। वे शत्रुओं को परास्त करने लग गए। इतने में ही दूसरा आदमी आया और ध्यानस्थ राजर्षि को देखकर बोला—'कितने बड़े ध्यानी हैं। कितने महान साधक हैं। अचल ध्यान-मुद्रा में खड़े हैं। धन्य है, धन्य है, धन्य है!' राजर्षि ने इतना-सा सुना। चेतना मुड़ी। युद्ध-भूमि से ध्यान-भूमि में आ गए। फिर ध्यान की धारा अखंड रूप से प्रवाहित होने लगी।

शब्दों की परिधि में चलने वाला ध्यान शब्द से प्रभावित होता है। ध्यान करने वाला कभी लड़ाई लड़ने लग जाता है और कभी आत्म-साधना की बात सोचने लग जाता है। वह रूप से भी प्रभावित हो जाता है।

अचिन्तन की स्थिति में जाने वाला, सामायिक में रहने वाला, अपनी आत्मा में स्थित रहने वाला न शब्द से प्रभावित होता है और न रूप से प्रभावित होता है। उसमें न शरीर का अध्यास होता है, न जीवन की आकांक्षा होती है और न मृत्यु का भय होता है। वह सबसे परे हो जाता है। वह सभी के गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर आत्मा के उस अंतरिक्ष में चला जाता है जहां भार की कोई अनुभूति नहीं होती।

लाडनूं शिविर

(२ मार्च, १६७६ से ११ मार्च, १६७६)

राजलदेसर शिविर

(१ जनवरी, १६७७ से ४ जनवरी-१०

८

शरीर से परिचित हों

साधना की दृष्टि से मस्तिष्क का ज्ञान बहुत आवश्यक है। साधक को यदि मस्तिष्क का ज्ञान नहीं होता है तो वह साधना में यथेष्ट सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

मस्तिष्क के तीन भाग हैं—*वृहद् मस्तिष्क, मध्य मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क।* इसकी रचना बहुत जटिल है। यह इतने अरबों-खरबों प्रकोष्ठों से बना है, इसकी यंत्र-प्रणाली इतनी जटिल और दुरूह है कि अभी तक इसकी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। वर्षों से इस पर शोध हो रहा है। हजारों वैज्ञानिक इसमें लगे हुए हैं, किन्तु अभी भी इसकी कार्य-प्रणाली रहस्य ही बनी हुई है। मनुष्य की *सारी वृत्तियों का, सारे संस्कारों का केन्द्र है मस्तिष्क।* शरीरशास्त्रियों ने अनेक केन्द्रों की खोज निकाला है। संवेदना का केन्द्र, मन का केन्द्र, वासना का केन्द्र आदि केन्द्र खोजे जा चुके हैं। इन केन्द्रों की सूक्ष्मता भी ज्ञात हुई है। इनकी चिकित्सा भी होती है। इनमें परिवर्तन भी किया जाता है।

हमारे मस्तिष्क में दो प्रकार के द्रव्य और वर्ण मिलते हैं। एक है धूमर-सा (हल्का पीला-सा) जो कि बुद्धि का है। जिस व्यक्ति का यह धूमर द्रव्य अच्छा होता है, उसके ज्ञानवाहक तन्तु अच्छे होते हैं, उसकी बुद्धि अच्छी होती है। दूसरा है *श्वेत रंग का द्रव्य, जो क्रिया का सूचक होता है।* श्वेत वर्ण वाले मस्तिष्क के भाग से क्रिया का नियन्त्रण होता है और धूमरवर्णीय भाग से बुद्धि का नियंत्रण होता है।

हमारे वृहद् मस्तिष्क से बहुत सारे तार या सूत्र निकले हैं जो ज्ञानवाहक हैं और गतिवाहक भी। वे वृहद् मस्तिष्क से लघु मस्तिष्क में होते हुए, सुषुम्ना-शीर्ष में से गुजरते हैं और आगे पृष्ठरज्जु के मध्य में जो सुषुम्ना है वहां जाते हैं। वहां से समूचे शरीर में फैल जाते हैं। वे समूचे शरीर में फैले रहते हैं इसीलिए *हमें समूचे शरीर में ज्ञान होता है और समूचे शरीर में क्रिया होती है।* ये मस्तिष्क समूचे शरीर का नियामक है, नियंत्रणकर्ता है। वृहद् मस्ति मस्तिष्क और सुषुम्नाशीर्ष—ये तीनों ही शरीर के नियामक तत्त्व हैं।

ध्यान-केन्द्र की ऊर्जा को नीचे ले जाता है और कामकेन्द्र को अधिक पुष्ट करता है। अब इस शारीरिक संरचना के बोध के पश्चात् इस दिशा में हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि साधना की दृष्टि से कामकेन्द्रगत ऊर्जा को हम ज्ञानकेन्द्र में ले जा सकें। उसका सबसे बड़ा पथ है—सुषुम्ना।

हमारे तीन मुख्य पथ हैं शरीर में—दाएं, बाएं और मध्य में। इन तीनों का महत्त्व इसलिए है कि प्राणों की तरंगें इन तीनों में से होकर ऊपर आती हैं। ये प्राणधारा या प्राण-तरंगों के प्रवाह-कक्ष हैं। यही इनकी महत्ता है। तीनों के मध्य है—सुषुम्ना। यह सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्राणधारा का प्रवाह-कक्ष है। इसमें से प्रचुर मात्रा में प्राणधारा ऊपर की ओर जाती है। योग की भाषा में बाएं मार्ग को ईड़ा और दाएं भाग को पिंगला कहते हैं। मध्य-मार्ग को सुषुम्ना कहते हैं। पृष्ठरज्जु की संरचना छत्तीस हड्डियों से हुई है। पृष्ठरज्जु में जो पीला भाग है, वह है सुषुम्ना-कक्ष। उसमें से प्राण-तरंगें आती हैं, जाती हैं। बायां मार्ग पृष्ठरज्जु के बाहर नीचे से प्रारंभ होता है और ऊपर आता हुआ बाएं नथुने में आकर समाप्त हो जाता है। यह ईडा का मार्ग है। दायां मार्ग पिंगला का है। वह पृष्ठरज्जु के बाहर नीचे से प्रारम्भ होता है और ऊपर आता हुआ दाएं नथुने में आकर समाप्त हो जाता है। मध्य का मार्ग सुषुम्ना का है। यह पृष्ठरज्जु के नीचे से प्रारंभ होता है और मस्तिष्क में आकर समाप्त हो जाता है। ये तीन मार्ग हैं। दो मार्ग जाते हैं नथुनों में और एक जाता है मस्तिष्क में। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम प्राण की धारा को दाएं-बाएं से निकालकर मध्य मार्ग में ले जाएं। प्राण की तरंगों को अधिक मात्रा में प्रवाहित करें ताकि वे मस्तिष्क तक पहुंच सकें। दो मार्गों में बहने वाली प्राणधारा मस्तिष्क तक नहीं जाती। केवल मध्य मार्ग से, सुषुम्ना से बहने वाली धारा ही मस्तिष्क तक पहुंच पाती है। मस्तिष्क में प्राणधारा को ले जाने का अर्थ है—ज्ञानकेन्द्र को प्राणधारा से भर देना। इस दृष्टि से सुषुम्ना को जानना और उस पथ से प्राणों को प्रवाहित करना, उन प्राणों से भर देना, यह साधना का एक प्रयोजन है। इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए हम अनेक क्रियाएं करते हैं।

हम दीर्घ श्वास का अभ्यास करते हैं। इससे शारीरिक लाभ होता है। फेफड़ों की सफाई होती है। प्राणवायु पूरी मात्रा में अन्दर चली जाती है। कार्बन डाइऑक्साइड बाहर निकल जाती है। आमाशय की सफाई भी होती है। पूरे उदरपथ की सफाई हो जाती है। यह तो शारीरिक लाभ हुआ। किन्तु हम दीर्घ-श्वास का अभ्यास केवल इस दृष्टि से नहीं कर रहे हैं कि शारीरिक लाभ हो। यदि केवल यही प्रयोजन होता तो यह हमारा स्वास्थ्य-निकेतन होता, साधना-निकेतन नहीं। किन्तु यह साधना-निकेतन है, स्वास्थ्य-निकेतन नहीं। हम दीर्घ श्वास का प्रयोग आध्यात्मिक लाभ के लिए कर रहे हैं।

नाम से इसकी बहुत चर्चाएं की हैं और इस पर अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं। यह भी चैतन्य का एक केन्द्र है। हमारे शरीर के अनेक स्थानों में चैतन्य-केन्द्र हैं। जहां-जहां चैतन्य-केन्द्र होता है, वहां स्नायुओं का भी बहुत बड़ा जाल-सा बन जाता है। उस स्नायुजाल को हम ग्रन्थि कहें, चक्र कहें या और कुछ भी। इनके नाम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किन्तु यह सत्य है कि हमारे इस शरीर के विभिन्न

[illegible]

निश्चित हैं ही। शरीर के प्रतिबिम्ब शरीर-पर्याप्ति में और उसके प्रतिबिम्ब स्थूल शरीर में। इस प्रकार यह एक शृंखला चलती है।

आज्ञाचक्र एक प्रबल चैतन्य-केन्द्र है। कुछ लोग पूछते हैं कि चेतना को जागृत करने के लिए मार्ग नहीं मिल रहा है। क्या वास्तव में कोई मार्ग है, या कल्पना मात्र है! मार्ग तो है, किन्तु हम कितना कर सकते हैं यह हमारे अध्यवसाय और प्रयास पर ही निर्भर है। मार्ग की कठिनाई नहीं है। मार्ग है—यह यथार्थ है, अनुभूत सत्य है। केवल कल्पना नहीं है। कोई साधक यदि तीन घंटा तक आज्ञाचक्र पर केन्द्रित हो सके, एकाग्र रह सके तो मैं समझता हूं कि वह दस दिन बाद यह नहीं कहेगा कि चेतना के जागरण का कोई मार्ग नहीं है। तीन घंटे के अन्तराल में कोई दूसरा विकल्प न आने पाए। कठिन अवश्य है। सामान्यतः एक-दो मिनिट या पांच-दस मिनिट तक भी एक धारा में चल पाना कठिन होता है, उस स्थिति में एक साथ तीन घंटा रह पाना अत्यन्त दुष्कर है। जो साधक दस-पन्द्रह मिनिट के अभ्यास तक पहुंच जाता है, वह यह अनुभव कर सकता है कि तीन घंटे तक एकाग्र रहने वाला सचमुच मार्ग को पा जाता है, उसका भटकाव मिट जाता है। किसी गुरु या उपदेशक की फिर आवश्यकता नहीं होती किन्तु उसमें इतनी श्रद्धा, इतनी तन्मयता, इतना प्रचुर सामर्थ्य अवश्य होना

[illegible] ...तमे हो जाते

है। निकम्मे कहां होते हैं! ध्यान-काल में इतनी शक्ति का उपयोग करना होता है कि ध्यान करने वाले बहुत बार अपने शरीर से भी हाथ धो बैठते हैं। उससे अनेक शारीरिक कठिनाइयां भी उत्पन्न होती हैं। ध्यान-काल में अधिक ऊर्जा खर्च होती है, विद्युत् खर्च होती है। मस्तिष्क को थोड़ा-सा श्रम होता है तो हमें लगता है कि सिर गरम हो गया है। ऐसा इसीलिए होता है कि मस्तिष्क की ऊर्जा, मस्तिष्क की विद्युत् खर्च अधिक हुई है। सिर गर्म क्या हो गया, वहां जो ऊर्जा थी, हमने उसका अधिक उपयोग कर लिया और वह इतनी जलनी शुरू हो गई कि सिर गर्म हो गया। चूल्हे जैसा जलने लग गया। जिस अवयव की ऊर्जा

हृदय चेतना का बहुत बड़ा केन्द्र है। साधना की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो साधक इस चक्र का उद्घाटन करता है, जागृत करता है, वह बाह्य जगत से छूटकर भीतर के जगत में प्रवेश पा जाता है।

इस प्रकार हमारे शरीर में अनेक चैतन्य-केन्द्र हैं। कुछ योगियों ने इन केन्द्रों की सख्या छह, कुछ ने सात और कुछ ने नौ बतलाई है। मैं मानता हू कि चैतन्य-केन्द्र इन सख्याओं से अधिक हैं। मुख्य-मुख्य केन्द्रों के नाम गिना दिए। दूसरे छोटे-मोटे केन्द्रों के नाम नही गिनाए। वस्तव में उनकी सख्या बहुत है।

चैतन्य-केन्द्र का अर्थ है—मर्म-स्थान। भारतीय आयुर्वेद के पुरस्कर्ताओं ने सत्तर मर्म-स्थान माने हैं। चीन में विकसित एक्यूपक्चर की चिकित्सा-पद्धति में सात सौ मर्म-स्थान माने गए हैं। शरीर में ऐसे सात सौ बिन्दु हैं जहां चैतन्य का प्रवाह अधिक है। इन बिन्दुओं को उत्तेजित कर अनेक प्रकार की बीमारियां मिटाई जाती हैं। अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा होती है।

मर्म का मतलब है रहस्य। मर्म-स्थान अर्थात् रहस्य का स्थान। इन मर्म-स्थानों में चेतना विशेष प्रकार से अभिव्यक्त होती है। प्रयोजनवश किसी एक, दो, चार मर्म-स्थानों को पकड़ो, स्पर्श करो। विशेष उपलब्धि होगी। चीन में चिकित्सा की दृष्टि से इन मर्म-स्थानों को खोजा गया। साधना की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। कुछेक मर्म-स्थानों, चैतन्य-केन्द्रों की चर्चा मैंने की है। उसी प्रकार और भी मर्म-स्थान हो सकते हैं।

एक चैतन्य-केन्द्र की और चर्चा कर दू। पृष्ठरज्जु के नीचे का स्थान मूलाधार कहलाता है। वह चैतन्य का केन्द्र है। साधना की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह विद्युत् का केन्द्र है। हमारी समस्त शारीरिक ऊर्जा, विद्युत् का यह सचय-गृह है। यहीं से ऊर्जा का प्रसारण होता है। यहीं विद्युत् का उत्पादन होता है और यहीं से विद्युत् का प्रसारण होता है।

आप जानना चाहते हैं कि ध्यानकाल में आपका मन एकाग्र हुआ या नहीं ? इसकी एक कसौटी है। जैसे ही मन एकाग्र होगा, नीचे के स्नायु ऊपर की ओर उठने लगेंगे। ऊर्ध्वाकर्षण का अनुभव आपको सहज भाव से होने लगेगा। यदि ऐसा होता है तो आप मान लीजिए कि आपका मन एकाग्र हुआ है, हो रहा है। यदि ऐसा नहीं होता है तो मन एकाग्र नहीं हुआ है, नहीं हो रहा है। वह भटक रहा है। मन की एकाग्रता का और नीचे के स्नायुओं का बहुत गहरा सबध है। मन के एकाग्र होते ही, मन के केन्द्रित होते ही नीचे के स्नायु अपने अपने आप ऊपर उठने लगेंगे। जैसे-जैसे एकाग्रता बढ़ती जाएगी, सकुचन गहरा होता जाएगा। सब कुछ सकुचित होता जाएगा। इसका मतलब है कि जो विद्युत् सचित है वह ऊपर उठने लगी है। विद्युत् की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होने लग गयी है, ऊ की ओर जाने के लिए वह अपना मार्ग खोजने लग गई है।

देखती रहे कि किसे भूख लगी है और किसे नहीं ? चेतना की वह स्थिति अभिव्यक्त हो जाए, वह ज्योति जल उठे, जो भूख को देखे और साथ-साथ अनुभव करे कि मुझे भूख नहीं है, मैं स्वयं तृप्त हूं, सदा तृप्त हूं, कभी अतृप्त होती ही नहीं, कभी भूख लगती ही नहीं। इस स्थिति का अनुभव ही वास्तव में तपस्या है। यह बहुत बड़ा तप है कि अपने चैतन्य को इतना जागृत कर देना कि वह देख सके कि भूख किसे लगी है ? कौन खा रहा है ? मैं तो केवल द्रष्टा हूं, देख रहा हूं।

नींद आती है, आदमी सो जाता है, मूर्च्छित हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत ही मर्म की बात लिखी है। उसे समझना आसान नहीं है। समझने के लिए भी बहुत गहराइयों में उतरना पड़ता है। उन्होंने लिखा—'आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को जो नहीं जानता, वह जैन शासन को नहीं जानता। वह महावीर की वाणी को नहीं समझता, महावीर को नहीं समझता।' बहुत बड़ी बात है, छोटी बात नहीं है। आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को समझने वाला जैन शासन को समझ लेता है और जो उन्हें नहीं समझता वह जैन शासन को नहीं समझता, नहीं जानता।

साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है—आहार-विजय। शरीर शरीर है। वह आहार के बिना नहीं टिकता। ऐसी स्थिति में आहार-विजय कैसे हो सकती है ? आहार-विजय हुए बिना जैन शासन को नहीं जाना जा सकता। दोनों विरोधी बातें लग रही हैं। ये विरोधी नहीं हैं। इनमें संगति है, और वह यह है कि जो व्यक्ति भूख, खाने वाले और चैतन्य के भेद का अनुभव नहीं करते वे आहार की विजय नहीं कर सकते। जो आहार की विजय नहीं कर सकता, उसे भूख निरन्तर सताती है। वह उपवास भी करता है तो उसे निरंतर भूख की अनुभूति होती रहती है। और जब भूख की अनुभूति होती रहती है तब तप की अनुभूति कहां से होगी ? कब होगी ? कैसे होगी ? न खाए और न खाने पर भूख न सताए, यह है आहार की विजय। यह तब संभव है जब वह भेद इतना स्पष्ट अनुभव में आ जाए कि जिसे भूख लग रही है वह कोई दूसरा है और मैं दूसरा हूं। मुझे कभी भूख नहीं सताती। मुझे कभी भूख लगती ही नहीं। यह भेद प्रयोग के द्वारा स्पष्ट हो जाए। हम न खाए और न खाकर यह प्रयोग करें। भगवान् महावीर ने तपस्या पर, उपवास पर इतना बल दिया, संभव है वह तपस्या भी उनका एक प्रयोग हो। वे स्वयं एक प्रयोग कर रहे थे कि न खाने की स्थिति में रहकर चैतन्य का कितना अनुभव किया जा सकता है और भूख के द्वारा होने वाली जो कठिनाई है, भूख के द्वारा होने वाली जो पीड़ा है, उस पीड़ा से अपने अस्तित्व को कितना अलग रखा जा सकता है। तप उनका एक प्रयोग था। केवल न खाना या उपवास कर लेना मात्र ही तपस्या नहीं है। मनः ध्यान और जागरूकता उसके साथ जुड़ी हुई रहे कि मैं नहीं खाता हूं और नहीं खाने से कष्ट

जागृत हैं। नींद लेते भी आप पूर्णरूप से जागृत हैं। नींद लेते हुए भी जाग रहे हैं। मैं नहीं कह सकता कि छह घंटों की पूरी नींद में जागृत रहने की स्थिति रहेगी। किन्तु यह कह सकता हूं कि कुछ क्षण ऐसे बीतेंगे कि आप नींद में भी यह अनुभव करेंगे कि आप जाग रहे हैं।

मैं चर्चा कर रहा हूं जागृत रहने की। पर उस स्थल की, उस संधि-स्थल की बात है जहां चेतन और अचेतन का संगम हुआ है। हम समझना चाहेंगे कि चेतन और अचेतन का वह संधि-स्थल कौन-सा है? वह बिन्दु कौन-सा है जहां दोनों मिलते हैं? इसे आहार के द्वारा समझाया जा सकता है। चेतन को भूख नहीं लगती। चेतन आहार नहीं करता, भोजन नहीं करता। आहार प्राणशक्ति का कार्य है। इधर चेतना है, उधर शरीर है और एक ऐसी प्राण की धारा बहती है जिसे भूख लगती है, जो खाती है।

आंख देखती है। इन्द्रियां अपना काम करती हैं। इन्द्रियों में ज्ञान नहीं है। जानने की शक्ति नहीं है। चेतना के आंख नहीं है। चेतना को आंख की कोई जरूरत भी नहीं है। यदि चेतना को आंख की जरूरत होती फिर अशरीर बिलकुल अन्धा होता, कुछ नहीं देख पाता। चेतना को इन्द्रियों की जरूरत नहीं है। और इन्द्रियों में जानने की क्षमता नहीं है। एक ऐसा संधि-स्थल है जहां चेतना और इन्द्रिय की प्राणधारा का बिन्दु मिल रहा है, संगम हो रहा है, उसे हम पकड़ें। इन्द्रियों के बिन्दु और चेतना के बिन्दु के संधि-स्थल को पकड़ें। श्वास और प्रश्वास के संगम-स्थल को पकड़ें। चेतना को श्वास की जरूरत नहीं है। चेतना ऐसा दीप नहीं है कि उसमें तेल डाला जाए तो वह जले और तेल न डाला जाए तो वह न जले, बुझ जाए। वह तो अखंड ज्योति है। वह अपने आप जलती है। उसके लिए श्वास आवश्यक नहीं है। किन्तु श्वास की प्राणधारा और चेतना का जो संगम-स्थल है, संधि-स्थल है, मिलन-बिन्दु है, उस बिन्दु को हम पकड़ें। ये सारे बिन्दु हमारी जागृति के बिन्दु हो सकते हैं। यदि इन पर प्रयोग किए जाएं तो ये जागृति के बहुत बड़े प्रयोग होंगे और इन प्रयोगों के द्वारा ही हम उस सूत्र को सार्थक कर सकेंगे या उसका अर्थ समझ सकेंगे कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अन्यथा यह हमारी रटन मात्र रहेगी। हम चेतना की भिन्नता और शरीर की भिन्नता को तभी समझ सकेंगे जब हम उनके मिलन-बिन्दुओं को पकड़ पाएंगे।

ये सारे मिलन-बिन्दु हैं—

भाषा। चेतना बोलती नहीं और जो बोलती है वह चेतना से भिन्न है। जहां भाषा और चेतना का संगम होता है, वह बिन्दु महत्त्वपूर्ण है। भाषा में जो शक्ति आती है वह चेतना से आती है। दोनों के संगम-स्थल को हम समझें, मिलन-बिन्दु को पकड़ें।

नहीं पा रहे हैं। मैं कहता हूं कि मिलन-बिन्दु को पकड़ो, मोड़ को पकड़ो। कितनी स्थूल बात है। फिर भी पकड़ नहीं पा रहे हैं। समझ में नहीं आ रहा है कि मिलन बिन्दु कहां है? छोर कहां है? यह स्थूल तथ्य भी हमारी समझ में नहीं आ रहा है। हम चेतन आत्मा और अचेतन शरीर के संगम-स्थल को पकड़ सकें, संधि-स्थल को पकड़ सकें, मिलन-बिन्दु को पकड़ सकें तो उनको अलग करने में भी हम सफल हो जाएंगे।

जो मृत्यु को नहीं देखता, वह मरने से बहुत घबराता है। जब कोई कहता है कि तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी, सचमुच उसी क्षण से उसकी मौत होने लग जाती है, मौत उतरने लग जाती है। जब यह लगता है कि मौत आ रही है तो सारा शरीर अकड़ जाएगा। शरीर कड़ा हो जाता है। कड़ा क्यों होता है? मौत आती है इसलिए नहीं, किन्तु मौत का भय उसे कड़ा कर देता है। तनाव ला देता है। मौत की प्रक्रिया यह है—शरीर को ढीला छोड़ दो, शिथिल कर दो और इतने तैयार हो जाओ कि हमारी चेतना, हमारी आत्मा शरीर से अलग हो तो भी ऐसा लगे कि कुछ हुआ ही नहीं है। शरीर तो शिथिल पड़ा है। हम तो पहले ही मरने की तैयारी में लग गए। शिथिल होने का मतलब ही है—मृत्यु की तैयारी। तनाव विसर्जित करने का मतलब ही है—मृत्यु की तैयारी। जो आदमी सदा मृत्यु की तैयारी रखता है, उसके न अकड़न होती है, न तनाव होता है, न भय होता है। कुछ भी नहीं होता। इसीलिए जैन आचार्यों ने मृत्यु पर बहुत कुछ लिखा है। मृत्यु विषयक एक ग्रन्थ है—'मृत्यु महोत्सव'। मृत्यु एक महोत्सव है। जो महोत्सव है, उससे तुम घबराओ, यह कैसे! मंगल गीत, राग, आनन्द, आनन्दपूर्ण आलाप—यह तो हो सकता है महोत्सव में। किन्तु भय की तो कोई बात नहीं हो सकती। मृत्यु महोत्सव है। उससे फिर भय कैसा?

जगदीश काश्यप बहुत बड़े बौद्ध विद्वान थे। उनका अभी-अभी देहावसान हुआ है। एक बार उन्होंने एक पत्र द्वारा हमसे कहा—"मैं अन्तिम समय में जैन पद्धति की समाधि मृत्यु से मरना चाहता हूं। इसलिए आप मुझे वह सारी पद्धति लिखकर भेजें। क्योंकि मृत्यु की तैयारी का विवरण जितना जैन साधना पद्धति में किया गया है, उतना शायद अन्यत्र दुर्लभ है।"

जैन साधना में मृत्यु की तैयारी बारह वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो जाती है। बारह वर्ष पहले मृत्यु की तैयारी! यानी मौत एक ऐसी घटना है जिसकी तैयारी के लिए बारह वर्ष चाहिए। बात सही है।

आपने देखा होगा, छोटे-मोटे ऑपरेशन के पूर्व भी बहुत बड़ी तैयारी की आवश्यकता होती है। ऑपरेशन होता है एक अवयव का, किन्तु डॉक्टर को बहुत बड़ी तैयारी करनी होती है। एक ऑपरेशन के लिए कितने डॉक्टर, कितनी नर्सें, कितने उपकरण, कितने यंत्र, कितनी औषधियां—तैयार रखनी होती है। क्योंकि

ऑपरेशन था। वे ध्यान की मुद्रा में बैठ गए और डॉक्टरों से कहा, 'आपको जो करना है, वह करें। जितना करना है, उतना करें। मैं बैठा हूं।' डॉक्टरों ने कहा—'यह कैसे संभव है? इतना बड़ा ऑपरेशन है। बिना अचेत किए, बिना मूर्च्छा लाए, यह कैसे होगा? आप उस कष्ट को कैसे सहेंगे?' उन्होंने कहा—'मैं ध्यान में बैठ जाता हूं। आप चिन्ता न करें। जो करना है, करें।' वैसा ही किया। वे ध्यान में बैठे रहे और ऑपरेशन कर दिया गया।

मैंने स्वयं देखा है। जोधपुर में श्रीकालूगणी का चातुर्मास था। मुनि कुंदनमलजी के मसे का ऑपरेशन होना था। वे सो गए। मुनि चौथमलजी (उनके बड़े भाई) और मुनि सोहनलालजी मसे को काटने लगे। मुनि कुंदनमलजी ने कहा—'सन्तो! देखना, पूरा ध्यान रखना। काम अधूरा न रह जाए। जितना काटना हो, पूरा का पूरा काट देना।' यह एक स्थिति है। मूर्च्छित हुए बिना, जागृत रहते हुए, उस कष्ट को झेल लेना तभी संभव होता है जब भीतर में कुछ जाग जाए।

काशी के नरेश की बात है। उनका ऑपरेशन होना था। डॉक्टरों ने बेहोशी के लिए सूंघनी सुंघानी चाही। नरेश ने मनाही कर दी। उन्होंने कहा—मुझे गीता ला दो। मैं गीता पढ़ता रहूंगा और आप अपना काम करते रहना।' वे गीता पढ़ने लग जाते तब ऐसी दुनिया में चले जाते कि फिर शरीर में क्या घटित हो रहा है उन्हें कोई भान नहीं रहता। हम भीतर में ऐसी ज्योति जला देते हैं कि उसके जलने के बाद फिर शरीर में क्या घटित होता है कुछ ज्ञात नहीं होता। जो घटित होता है, वह होता है। ये जागृति के क्षण हमारे ध्यान में आ जाते हैं, फिर हम मूर्च्छित नहीं होते। 'मृत्यु-विजय' की यह बहुत बड़ी साधना है। जो आदमी मृत्यु के क्षण में मूर्च्छित नहीं होता, जो जागते जागते मृत्यु का वरण करता है, वह सचमुच कुछ पा लेता है।

हमारे संघ की एक घटना है। एक मुनि थे। वे बड़े तपस्वी थे। उन्होंने छब्बीस वर्ष तक मास-मास की तपस्या की, प्रतिवर्ष मासखमण करते थे। वे तेरापंथ के चौथे गणी श्रीमज्जयाचार्य के बड़े भाई मुनि भीमराजजी के साथ थे। मुनि भीमराजजी का देहावसान हो गया। लोग दाह-संस्कार के लिए ले गए। तपस्वी मुनि ने अन्य मुनियों को बुलाकर कहा—'देखो, मैं जिनके साथ वर्षों तक रहा, वे चल बसे। वे ही चले गए तो मुझे यहां क्यों रहना चाहिए। सन्तो, मैं पुस्तक-पन्ने। मैं तो जा रहा हूं।' इतना कहकर वे स्वर्गस्थ हो गए। मृत्यु का वरण कर लिया। लोग दाह-संस्कार कर लौटे ही नहीं थे कि ये और चल बसे। यह है इच्छा-मृत्यु, संकल्प-मृत्यु। यह मृत्यु वैसे व्यक्ति की होती है जो जागृत अवस्था में मरता है, पूर्ण जागरूकता में मरता है।

एक बहुत बड़ा साधक हुआ है। उसने कहा—लोग बेहोशी में मरते हैं। मैं-

है वह आदमी है और जिसका सिर ऊपर होता है और पैर नीचे होते हैं, वह आदमी नहीं है। वह बनावटी है। न जाने इस प्रकार की कितनी ही धारणाएं हमने बना रखी हैं। उन सारी मिथ्या धारणाओं, मिथ्या कल्पनाओं को तोड़ने के लिए प्रेक्षा ध्यान-पद्धति में अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। दो शब्द हैं। एक है प्रेक्षा और एक है अनुप्रेक्षा। मैं बहुत दिनों से सोचता था कि प्रेक्षा के पीछे 'अनु' का प्रयोग क्यों किया गया है? इस पर सोचते-सोचते जो एक बात सूझी यह यह है—जो सचाई है, उसे देखना अनुप्रेक्षा है। सचाई को देखो। उसे अपनी धारणा से मत देखो। मछली ने धारणा बना ली कि आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। इसी धारणा से वह आदमी को देखती थी। यह अनुप्रेक्षा नहीं है। अपनी धारणा से मत देखो। संस्कार की दृष्टि से मत देखो। काल्पनिक दृष्टि से मत देखो। केवल सचाई से देखो। वास्तविकता को देखो। यथार्थ को देखो। जो सत्य है, जो घटना घटित हो रही है, उसी को देखो। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—'सत्यं अनुप्रेक्षा' अर्थात् सत्य के प्रति अनुप्रेक्षा, यथार्थ के प्रति अनुप्रेक्षा, वस्तु के प्रति अनुप्रेक्षा। उधारी धारणा से काम मत लो किन्तु जो घटना है, जो वास्तविकता है, जो सचाई है, उसी को देखो। इस प्रकार अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है कि हम अपनी धारणाओं को एक बार निकाल दें। अपनी पूर्व मान्यताओं को छोड़ दें और फिर जो सचाई है, यथार्थ है, उसको देखें। प्रेक्षा ध्यान पद्धति में इस अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। यह इसलिए किया जाता है कि हम रूढ़ियों को, संस्कारों को, धारणाओं को छोड़कर, वास्तव में सचाई को देखना सीख सकें। यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि मनुष्य सचाई को नहीं देखता। वह सबसे पहले अपनी धारणाओं का चश्मा लगा लेता है और बाद में देखता है। यदि वह ठीक नहीं जंचता है तो वह उसे तोड़ने-मोड़ने का प्रयत्न करता है।

अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त, यथार्थ में सत्य के दर्शन का सिद्धान्त है, सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धान्त है। सत्य के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ। अपनी किसी भी धारणा को महत्त्व मत दो। जो सचाई है उसे ग्रहण करो, स्वीकार करो। यह है अनुप्रेक्षा।

सचाई यह है कि सारा संसार प्रकम्पनों का संसार है। कंपन, कंपन और कंपन। प्रकृति में इतना तीव्र आन्दोलन हो रहा है कि हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इतना बड़ा आन्दोलन है कि यदि हम प्रकंपनों को देखने लग जाएं, सुनने लग जाएं तो हमारे इस शारीरिक अस्तित्व को ही खतरा हो जाए। यह तो अच्छा है कि हमारे कान के पर्दे ऐसे बने हुए हैं कि वे सारे प्रकम्पनों को पकड़ते नहीं, बहुत थोड़े से प्रकम्पनों को पकड़ते हैं। यदि वे सारे प्रकम्पनों को पकड़ने लग जाएं तो आदमी एक ही दिन में समाप्त हो जाए। वह जी ही नहीं

के संस्कार को जीतने के लिए संतोष के संस्कार का निर्माण करना होता है। एक संस्कार को तोड़ने के लिए दूसरे संस्कार का निर्माण करना होता है।

अनुप्रेक्षा में ध्वनि का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि हम एक संस्कार को तोड़कर दूसरे संस्कार का निर्माण कर सकें। इस स्थिति में हम ध्वनि के महत्त्व का भी अंकन करता है। ध्वनि प्रकंपन है। जैसे ही हम बोलते हैं वैसे ही ध्वनि की तरंगें उत्पन्न होती हैं। वे तरंगें वायुमंडल में फैल जाती हैं। ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं—चारों ओर वे ध्वनि के प्रकंपन फैल जाते हैं। वे प्रकंपन दूसरी वस्तुओं से टकराते हैं, दूसरों को प्रभावित करते हैं और दूसरों पर अपना असर छोड़ते हैं। हम भी ऐसे ही प्रभावित होते हैं।

यह संक्रमण का जगत् है। यहां कोई भी व्यक्ति अपने आपको संक्रमण से बचा नहीं सकता। रूस में क्रांति हुई। लोग कहते हैं कि लेनिन ने क्रांति की, उसके साथियों ने क्रांति की। किन्तु अब रूस के वैज्ञानिक कुछ नयी बातें कह रहे हैं। वे कहते हैं—न लेनिन ने क्रांति की और न उसके साथियों ने। सूर्य में विस्फोट हुआ और यहां क्रांति घटित हो गयी। इस क्रांति का मूल कारण सूर्य का विस्फोट है, न कि मनुष्य। मनुष्य क्रांति का कारण नहीं है। सूर्य पर जब-जब विस्फोट होते हैं, तब-तब मनुष्य का मस्तिष्क बहुत प्रभावित होता है। जिस वर्ष सूर्य में भयंकर विस्फोट होते हैं उस वर्ष सारी पृथ्वी पर भयंकर बीमारियां, भयंकर तूफान और भयंकर भूकम्प आते हैं। परस्पर भयंकर युद्ध और संघर्ष होते हैं। इस प्रकार ये सारे संघर्ष, ये सारे तूफान, ये सारी बीमारियां, ये क्रांतियां सूर्य का विस्फोट कराता है, न कि मनुष्य उन्हें करता है। हम अनेक चीजों से प्रभावित होते हैं। कहीं कुछ घटित होता है और हम प्रभावित हो जाते हैं। हम दूसरों को प्रभावित करते हैं और स्वयं दूसरों से प्रभावित होते हैं।

संक्रमण के इस जगत् में कोई भी संक्रमण से बच नहीं सकता। कहीं कोई सुरक्षा का ऐसा कवच नहीं है कि मनुष्य उस संक्रमण से, उस प्रभाव से अपने आपको बचा सके और अपने आपको सुरक्षित रख सके।

ध्वनि एक कवच का काम भी करती है। हम दूसरों से कम प्रभावित हों, इसके लिए ध्वनि का कवच बना सकते हैं। रोज पश्चिम रात्रि का समय आता है और हमारी अनित्य अनुप्रेक्षा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। सब लोग बैठते हैं और संकल्प होता है कि अनित्य अनुप्रेक्षा करनी है। सब शान्त और जागृत। सब शान्त और सचेत। अनित्य अनुप्रेक्षा प्रारम्भ होती है।

हमारा पहला सूत्र होता है—'इम सरीरं अणिच्चं'—यह शरीर अनित्य है। इस सूत्र की ध्वनि के साथ हम अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रारम्भ करते हैं।

हमारा दूसरा सूत्र होता है—'इम सरीरं चयावचयधम्मयं'—यह शरीर चय-अपचयधर्मा है। इसका चय होता है, अपचय होता है। यह पुष्ट होता है, क्षीण

अनुभव करें। हम शरीर को इतना ढीला छोड़ दें कि ऐसा लगे, मानो मृत्यु का अनुभव हो रहा है। ऐसा होता है। मृत्यु का अनुभव होने लगता है। यह प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है। मृत्यु घटित नहीं हो रही है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। भावनात्मक परिवर्तन के द्वारा, भावना की अत्यन्त तीव्रता और सघनता के द्वारा हम उस स्थिति का अनुभव कर सकते हैं जो स्थिति बहुत समय के बाद घटित होने वाली है।

यह है अनित्यता की अनुप्रेक्षा। जो घटित हो रहे हैं, जो घटित कर रहे हैं, उसे हम देखते हैं। इसमें ध्वनि का बहुत बड़ा योग है। इसीलिए हमने ध्वनि का आलंबन स्वीकार किया है, कल्पना का आलंबन स्वीकार किया है। हम एक सीमा तक ध्वनि और कल्पना के आलंबन की उपेक्षा नहीं कर सकते। आलंबन हमें लेना ही होता है।

अर्हं के जप में लोग ध्वनि के साथ अर्हं की भावना करते हैं, फिर सूक्ष्म ध्वनि के साथ अर्हं की भावना करते हैं, फिर अर्हं की मानसिक भावना करते हैं। प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग अनुभूति होती है।

मैंने एक दिन कहा था कि हम तीव्र ध्वनि को बंद कर दें। एक बार उस प्रयोग को स्थगित कर दें, किन्तु कुछेक लोगों ने कहा—यह प्रयोग तो चलना ही चाहिए क्योंकि यह प्रिय लगता है, एकाग्रता सधती है। यह स्वाभाविक बात है। हम इस मानव स्वभाव को न भूलें कि दीर्घ या स्थूल आलंबन को छोड़कर, सूक्ष्म आलंबन की ओर हम सहसा हर किसी व्यक्ति को नहीं ले जा सकते। प्रेक्षा ध्यान की पद्धति में इस वास्तविकता को ध्यान में रखा गया है कि साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर चले। स्थूल को देखते रहो, सूक्ष्म की बात पकड़ में नहीं आएगी। बहुत सारे लोग यह शिकायत करते हैं कि सहज श्वास पकड़ में नहीं आ रहा है, प्रकंपन पकड़ में नहीं आ रहे हैं। यह ठीक बात है। प्रारंभ में ऐसा नहीं होता। हमें यह ध्यान रखना है कि हम जिस व्यक्ति को साधना के लिए प्रेरित कर रहे हैं उसमें साधना-काल में ऊब न आए, निराशा न आए। यदि उसमें निराशा आएगी तो वह साधना कर नहीं सकेगा। यदि वह ऊब जाएगा तो संभव है साधना ही छूट जाए और वह फिर कभी उसमें प्रविष्ट होने का नाम ही न ले। इसलिए बहुत आवश्यक है कि साधना करने वाले व्यक्ति में ऊब न आए, उसमें आकर्षण बना रहे और साधना के प्रति अनुराग सघन पुष्ट होता चला जाए। इसलिए प्रारंभ में मैं स्थूल आलंबन को आवश्यक मानता हूं। यद्यपि यह आवश्यक है कि हम स्थूल पर रुकें नहीं। हम सूक्ष्म तक पहुंचना है। किन्तु क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि साधारण आदमी सहसा स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में चला जाए? ऐसे लोग विरल होते हैं जो सीधे सूक्ष्म तक पहुंच जाएं।

एक साधक गुरु के पास आकर बोला—'मैं साधना करना चाहता हूं। आप

बचा ? केवल गति, केवल गति। उसे और कुछ दिखाई नहीं देता। केवल भूमि ही भूमि दीख रही है। यह गमनयोग है।

मैं कह रहा था कि हमें एक आलबन लेना है। आप यह न मानें कि केवल श्वास का ही आलबन है। ऐसा मानेंगे तो अनुप्रेक्षा नहीं होगी। यथार्थ की घटना नहीं होगी। श्वास का भी एक आलबन है। यदि आप केवल गमन को ही आलबन बना लें तो वह बहुत बड़ा आलबन बन सकता है। हरिभद्र सूरी ने कहा है—'सव्वोऽवि धम्मवावारो मोक्खेण जोयणाओ जोगो'—मुक्ति देने वाला, दुःखमुक्ति करने वाला सारा धर्म का व्यापार योग है। यह बहुत गहरी बात है। उन्होंने बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया है। हम किसी को भी आलबन बना लें, आखिर वह हमारे लिए आलबन बन जाएगा।

मैं एक दूसरे आलंबन की चर्चा करूं। एक आदमी कुछ भी नहीं करता। न ध्यान करता है, न स्वाध्याय करता है और न और कुछ करता है। यदि वह केवल एक बात को पकड़ लेता है कि मैं केवल रोटी ही खाऊंगा, और कुछ नहीं करूंगा—मैं समझता हूं कि उसे ध्यान का इतना लाभ मिल जाएगा जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकेंगे। वह सोचता है—मैं केवल खाऊंगा, और कुछ भी नहीं करूंगा। केवल खाना भी बहुत बड़ी साधना है।

मर जाता है। मृत्यु का अनुभव करना भी बहुत बड़ा आनन्द है। इस अनित्य अनुप्रेक्षा के द्वारा हम जीते-जी मरना सीख लेते हैं। और जो आदमी मरना सीख लेता है, वह सारी कठिनाइयों का पार पा जाता है। दुनिया में सबसे बड़ा भय है मौत का। यह अंतिम बात है।

आज तक के दुनिया के शासकों ने दण्ड का विकास किया है। विविध प्रकार के दण्ड उपयोग में लाए जाते हैं—बांधना, जेल में डाल देना, हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डालना, मारना, पीटना। उनके पास भी अंतिम दण्ड है—फांसी की सजा। मौत की सजा। यह अंतिम दण्ड है।

जो आदमी जीते-जी मरना सीख लेता है, मृत्यु का साक्षात्कार कर लेता है, मृत्यु का अनुभव कर लेता है, अपने शरीर को शिथिल बनाकर सारे अवयवों को मृतवत् करना सीख जाता है—सचमुच वह आदमी सारी समस्याओं का, सभी प्रकार के भयों का और सारी कठिनाइयों का पार पा लेता है।

हम अनित्य की अनुप्रेक्षा करते हैं। उस अनुप्रेक्षा में से ही सचाइयों को देखते हैं, आनन्द को निकालते हैं और अपने भीतर की गहराइयों में जाने का प्रयत्न करते हैं, उसकी साधना करते हैं। यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। अन्यथा यदि किसी को कहा जाए कि तुम मृत्यु का अनुभव करो तो वह सोचेगा कि कैसी मूर्खता की बात कह रहा है? जीने की बात करे तो वह अच्छी भी लग सकती है, किन्तु यह तो मौत की बात कह रहा है। बुरी बात है। जीने की [illegible] मौत की बात बुरी लगती है। लोग इसे अपशकुन मान [illegible] सकते। वे मौत की बात [illegible]

[illegible]

रूपान्तरित होते हैं, वह दृष्टि-[illegible] हो जाता है। [illegible] रूपान्तरण [illegible] में रूपान्तरण प्रारम्भ [illegible] जो दुनिया को उल्टी लगती होते [illegible]

[illegible]

है, [illegible] वे साधक को उल्टी लगने लग जाता है।

एक साधक ने कन्फ्यूशियस से पूछा—मैं मन पर संयम कैसे करूं? [illegible] कन्फ्यूशियस बहुत बड़ा साधक था, योगी था, महान् दार्शनिक था, महान् तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा—मैं इसका सीधा-सा उपाय बताता हूं, छोटा-सा सूत्र देता हूं। क्या तुम कानों से सुनते हो? साधक ने कहा—हां। कन्फ्यूशियस बोला—मैं नहीं मान सकता कि तुम कानों से सुनते हो। तुम मन से सुनते हो। एक काम करो,

है, आख में नही है, जीभ में नही है। जो जैसा है, वैसा ही मुझे दिखाई दे रहा है। इसमें न कोई प्रियता है और न कोई अप्रियता है। न कोई राग है और न कोई द्वेष है। जो जैसा है, वैसा सस्थान, आकृति और वर्ण मेरी आखो के सामने आ रहा है और आखें उसे पकड रही हैं। अब मन में किसी के प्रति प्रियता का भाव आता है और किसी के प्रति अप्रियता का भाव आता है, तो इसमें बेचारी आखो का क्या दोष है ? उनका कोई दोष नहीं है। ये तो मात्र नालियां हैं। इनसे चाहे गदा पानी बहा ले जाओ, चाहे निर्मल पानी बहा ले जाओ। कुछ भी बहाकर ले जाओ, ये तो मात्र माध्यम हैं। इनका कोई दोष नही है। प्रियता का भाव या अप्रियता का भाव, राग या द्वेष—यह सारा आ रहा है मन के द्वारा, सस्कार के द्वारा और धारणा के द्वारा। जिस प्रकार की धारणा जिस व्यक्ति के प्रति हमारे मन में जमी हुई है, जैसे ही आख से उसे देखा, उस देखने के पीछे-पीछे सूक्ष्म रूप में धारणा की तरगें, मन की तरगें जुड जाती हैं। फिर आख का काम नही रहता। फिर हम आख से नही देखते, सस्कार से देखते हैं, धारणा से देखते हैं, मन से देखते हैं।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है प्रतिसलीनता का, सयम का, कि इन्द्रियो से केवल इन्द्रियों का काम लो, दूसरा काम मत लो। यह है सयम का सूत्र।

मैं रूपान्तरण के सूत्रो की चर्चा कर रहा हू। हम सचमुच बदलना चाहते हैं। हर आदमी बदलना चाहता है, इसमें कोई सदेह नहीं है। जिसे क्रोध आता है, वह अपने स्वभाव को बदलना चाहता है। जिसमें दूसरो की निन्दा करने की आदत है, वह उस आदत को बदलना चाहता है। जो खाने में लोलुप है, वह भी अपनी आदत बदलना चाहता है। वह यह मन से चाहे या लाचारी से, पर चाहता है बदलना।

पर तथ्य है कि आदत बदलती नहीं, स्वभाव बदलता नही। बहुत कम आदमी अपने आप को बदल पाते हैं। वे जानते है कि अमुक बुराई है, वे मानते हैं कि यह बुराई है, प्रयत्न करते हैं कि उसे छोड़ा जाए, बदला जाए, परन्तु वे उसे छोड़ नही सकते, उसे बदल नही पाते। क्यो ? ऐसा क्यो होता है? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इसका उत्तर गहराइयों में उतरकर देना होता है। मैं मानता हू कि साधना की अन्यान्य सफलताओ में यह भी एक महत्त्वपूर्ण सफलता है कि हम इस प्रश्न का उत्तर पा सकें। आदमी बदलना चाहता है, फिर भी क्यो नही बदल पाता ? इस प्रश्न का उत्तर साधना की भूमिका के अतिरिक्त कही भी प्राप्त नहीं हो सकता। एकमात्र साधना की भूमिका से ही हम इस प्रश्न का समाधान दे सकते है।

हम श्वास का प्रयोग कर रहे हैं। श्वास को भीतर ले जाने के प्रयत्न के साथ-साथ मन को भीतर ले जाने का प्रयत्न करते है। ऐसा क्यों कर रहे है ? हम एकाग्रता का अभ्यास क्यो कर रहे है ? हम विचार-शून्यता का अभ्यास क्यो कर रहे है ? यह हमें समझना होगा। हम करते आ रहे है, आखिर क्यो ?

है कि यह सारा का सारा संकल्प हमारी स्थूल चेतना के स्तर पर जागृत मन के स्तर पर होता है। संकल्प करता है, जागृत मन और बुराई आ रही है किसी दूसरे बिन्दु से। बीमारी है कहीं और हम इलाज कहीं अन्यत्र कर रहे हैं।

एक आदमी को आंख दुखने लगी। वैद्य के पास गया। वैद्य ने कहा—'यह वर्तिका है। इसे घिसकर आंख में आंज देना।' दो दिन बाद वैद्य रोगी के घर पहुंचा। उसने देखा कि वह रोगी वर्तिका को घिसकर पीठ पर मल रहा है। वैद्य ने पूछा—क्या कर रहे हो? यह दवा तो आंख के लिए है। तुम इसे पीठ पर कैसे लगा रहे हो? उसने कहा—क्या करूं? पहले दिन तो आंख में ही आंजी थी, किन्तु वह बहुत जली। तब मैंने सोचा—चलो, आंख में न सही, पीठ पर ही मल लें। क्या फर्क पड़ता है।

हम लोग भी सचमुच ऐसे ही हैं। बीमारी कहीं है और दवा कहीं लगा रहे ं। रोग कहीं है और चिकित्सा कहीं कर रहे हैं। बीमारी तो है सूक्ष्म चेतना में, बीमारी है कर्म शरीर में, बीमारी है वासना शरीर में और इलाज करना चाहते हैं स्थूल मन में, जागृत मन में, स्थूल शरीर में। इस मन का यह काम ही नहीं है। जहां ये सारी आकांक्षाएं, सारी अतृप्तियां, सारी वासनाएं आ रही हैं, उनका जो स्रोत है, वह है अध्यवसाय। अध्यवसाय मलिन होता है, अध्यवसाय निर्मल होता है। अध्यवसाय की मलिनता, अध्यवसाय की निर्मलता के आधार पर भीतर में सारा लता है। हम केवल उपचार कर रहे हैं स्थूल मन का, जागृत मन का। जीवन र उपचार करते चले जाते हैं, पर बीमारी कभी मिटती नहीं। हम सोच लेते हैं, ना प्रयत्न करने पर भी यह मिटा नहीं। हम लोग ठीक उसी ग्रामीण जैसे हैं, फूंक मारकर बिजली को बुझाना चाहता है। बिजली नहीं बुझेगी। रोग नहीं गा।

हम श्वास के साथ-साथ मन को भी भीतर ले जा रहे हैं, इसलिए कि अवचेतन मन के द्वार को खोल सकें। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच में जो दीवार है, उसे तोड़ सकें और इनके बीच में एक ऐसा दरवाजा बना सकें कि हम सीधे स्थूल मन में से सूक्ष्म मन में चले जाएं, स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में चले जाएं। यदि हम बीच के दरवाजे को खोल सकें, बीच की दीवार को तोड़ सकें तो यह साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

इस दरवाजे को खोलने का जो साधन है, वह है एकाग्रता। दूरी को समाप्त करने का जो साधन है, वह है एकाग्रता। हम एकाग्रता का जितना अभ्यास कर ते हैं, उतनी ही मात्रा में हम इस दूरी को समाप्त कर सकते हैं। जैसे-जैसे मारी एकाग्रता बढ़ेगी, स्थूल मन निष्क्रिय होगा और सूक्ष्म मन को काम करने मौका मिल जाएगा। वह सक्रिय हो जाएगा। दरवाजा खुल जाएगा। जैसे- हमारी विचार-शून्यता बढ़ेगी, इतना तेज धक्का लगेगा कि सूक्ष्म मन का

भीतर जाने लगेगा, मन भीतर देखने लगेगा, मन गहराइयो मे उतरने लगेगा तो एक धक्का ऐसा लगेगा कि वह दरवाजा खुल जाएगा। वहां हमे उत्तर मिलेगा कि आदत को बदला जा सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है, क्योंकि बुराई का जो स्रोत है, वह पकड मे आ जाता है। बुराई की जड जब उखड जाती है, तब बुराई मिट जाती है। स्थूल मन मे संकल्प को बहुत दोहराने की आवश्यकता नहीं होती।

नहीं होगी। इस बात को मूल से पकड़ें कि कषाय के क्षीण हुए बिना आध्यात्मिकता का विकास नहीं होगा, चेतना की निर्मलता प्राप्त नहीं होगी, वासनाएं क्षीण नहीं होंगी, विकार मिटेंगे नहीं और वृत्तियों में परिवर्तन नहीं होगा। जिसमें परिवर्तन आना चाहिए वह नहीं होगा। इनसे तो बीच की कुछ बातें हो सकती हैं, होती हैं।

तो हम साधना में पहले इस सत्य को समझें कि तैजस शरीर या विद्युत् शरीर की चकाचौंध में, उसके चमत्कारों में उलझकर उसे आध्यात्मिक न मान बैठें। उसे साधना की उपलब्धि न मान बैठें। यह मानसिक साधना की उपलब्धि मात्र है। इसे राग-द्वेष की क्षीणता से या वीतरागता से आने वाली उपलब्धि न मानें।

हमें क्या बदलना है—इसे भी स्पष्ट रूप से दोहराते जाएं। 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए'—हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन में शत्रुता का भाव रहे ही नहीं। हम आदमी को शत्रु मान लेते हैं। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर देते हैं कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया है। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नहीं है कि उसने भी कुछ किया है। सारा का सारा दोष हम दूसरों के सिर मढ़ देते हैं। 'पत्थर कितने ऊबड़-खाबड़ हैं, मुझे ठोकर लग गयी।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी—इस बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे, यही किंतु कहेंगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नहीं थे, इसीलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसीलिए सिर में चोट लगी किन्तु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नहीं किया, सिकोड़ा नहीं, इसलिए सिर में चोट लगी—ऐसा कोई नहीं सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को [illegible] डाला। उसने इसे प्रभावित कर

[illegible]

है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है। इसलिए वह इस प्रयत्न में रहेगा कि वह अप्रमत्त रह सके, जागृत रह सके, सतत जागरूक रह सके।

मैं समझता हूं कि शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है—अपने कर्तृत्व को भुलाकर दूसरे के कर्तृत्व में बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ ने उसे उठाया। वह

अभी-अभी इसकी वैज्ञानिक व्याख्या पढ़ी तो आश्चर्य हुआ।

हमारे शरीर में दो प्रकार के विद्युत् हैं—एक है पोजिटिव और एक है नेगेटिव। एक है धन विद्युत् और एक है ऋण विद्युत्। शरीर का ऊपर का जो भाग है—आंख, कान, नाक, सिर, मुंह—इन सब में धन विद्युत् है। नीचे का जो भाग है—पैर, जांघ आदि, इन सब में ऋण विद्युत् है। व्यक्ति ब्रह्माण्ड से, जगत् से भिन्न नहीं होता। जब इससे सम्बन्ध जुड़ता है तब व्यक्ति समाज बन जाता है। हम ऐसे जगत में जीते हैं जहां वातावरण का प्रभाव होता है, परिस्थिति का प्रभाव होता है। हम इन सबसे प्रभावित होते हैं।

विश्व में दो ध्रुव माने जाते हैं। एक उत्तरी ध्रुव और दूसरा है दक्षिणी ध्रुव। जो उत्तरी ध्रुव है उसमें बिजली का अटूट भण्डार है। वहां इतनी बिजली है कि वहां जाने पर ऐसा लगता है कि मानो सैकड़ों सूर्य उग आए हों। बहुत चकाचौंध है। पता ही नहीं लगता कि कहीं अन्धकार है। दक्षिणी ध्रुव में भी इतनी ही विद्युत् है। उत्तरी ध्रुव में धन-विद्युत् है और दक्षिणी ध्रुव में ऋण-विद्युत्। जब आदमी उत्तर की ओर सिर करके सोता है तब उसके पैर दक्षिण की ओर होते हैं। दक्षिण से जो विद्युत् का प्रवाह आता है वह ऋणात्मक होता है और मनुष्य के पैर की विद्युत् भी ऋणात्मक होती है। जहां दो ऋणात्मक विद्युत् परस्पर मिलती हैं, वहां प्रतिरोध होता है, टक्कर होती है। इसी प्रकार जब धन-विद्युत् से धन-विद्युत् मिलती है तब प्रतिरोध होता है। वे एक-दूसरे को सहारा नहीं देतीं किन्तु एक-दूसरे को हटाने का प्रयास करती हैं। इसलिए जो व्यक्ति दक्षिण की ओर पैर करके सोता है, उसकी ऋण-विद्युत् दक्षिणी ध्रुव से आने वाली ऋण-विद्युत् से टकराती है। उस स्थिति में व्यक्ति के मन में चिन्ता उत्पन्न होती है, बुरे-बुरे स्वप्न आते हैं और शरीर में बीमारियां तथा विकृतियां उत्पन्न होती हैं। इसीलिए वैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादन किया कि दक्षिण की ओर पैर कर नहीं सोना चाहिए। इससे शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की बीमारियां होती हैं।

हम इस बात को न भूलें कि रहस्यों का उद्घाटन करने पर जो बात हमारी समझ में सही दृष्टि से आती है और जिस पर हमारा सही विश्वास उत्पन्न होता है, वह मान्यता मात्र से नहीं होता।

अब मैं आपके समक्ष अध्यात्म के रहस्यों को भी इस संदर्भ में थोड़ी-सी चर्चा करना चाहता हूं।

धर्म का मूल सूत्र है—पाप मत करो, पाप से बचो। पर कैसे बचा जा सकता है, यह प्रश्न है। कितना चंचल है मन। कितना चंचल है शरीर। कितनी चंचल है वाणी। इनसे कुछ न कुछ हो ही जाता है। हम पापों से कैसे बचें? क्या उपाय है उनसे बचने का? अध्यात्म के रहस्य का उद्घाटन किए बिना यह समस्या

जाते हैं, फिर आप आक्रमण से मुक्त हो जाते हैं। किसी का आक्रमण हो नहीं सकता।

अध्यात्म के द्वारा हम इनसे बच सकते हैं। हम उसी अध्यात्म की चर्चा कर रहे हैं जो अध्यात्म हमें इन सारे बाहरी आक्रमणों से बचा सकता है और इन सारे प्रभावों से अप्रभावित रख सकता है। आज हम उस अध्यात्म से थोड़ा दूर भटक गए हैं। आज बताने वाले नहीं रहे। अध्यात्म के रहस्य भी आज अज्ञात बन गए हैं। इसका कारण क्या बना? यही तो बना—

एक आदमी चलता है। पैर से दबकर जीव मर जाता है। हम कहते हैं—हिंसा हो गयी। उसने जीव को मार डाला, हिंसा हो गयी। यह हमारा निर्णय हुआ। यह व्यवहार का निर्णय है, बाहरी दुनिया का निर्णय है। भगवान् महावीर ने या किसी मनस्वी आचार्य ने यह तो नहीं माना। उन्होंने तो यही कहा—वध होता है अध्यवसाय से। एक होता है अध्यवसाय और एक होती है घटना। दोनों दो बातें हैं। अध्यवसाय अन्तर्जगत का निर्णय है। और घटना बाह्य जगत् में घटित होती है। आचार्य भिक्षु ने यह कहा था कि मारने वाला हिंसक होता है। जो मारता है अर्थात् जिसका मारने का अध्यवसाय है वह हिंसक है। जीव जीता है या मरता है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जीता है तो कोई दया नहीं होती और मरता है तो कोई हिंसा नहीं होती। जीव मरता है या नहीं मरता, यह गौण बात है, दूसरी बात है। मारने का जो संकल्प है, अध्यवसाय है, परिणाम है—यह मुख्य बात है। हिंसा है मारने का अध्यवसाय न कि किसी का मर जाना। अध्यात्म के जगत् में पहुंचकर जब हम रहस्यों को देखते हैं तब हमारी सारी साधना-पद्धति बदल जाती है। फिर हम घटना को मुख्य मानकर व्यवहार नहीं चलाते किन्तु अन्तर को मुख्य मानकर व्यवहार चलाते हैं।

एक है सामाजिक जीवन। सामाजिक जीवन के निर्णय व्यवहार के आधार पर होते हैं और व्यवहार के आधार पर ही व्यक्ति जीवन चलाता है।

एक है व्यक्ति का जीवन। इसमें निर्णय का सारा आधार होता है आन्तरिक जीवन। इसलिए यह कहा गया कि दिन हो या रात, कोई देख रहा हो या न देख रहा हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। जिस स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता वह आन्तरिक स्थिति होती है। अन्तर आता है व्यवहार के जगत् में। व्यवहार को मानकर चलने वाला, आचरण करने से पहले यह देखेगा कि प्रकाश है या अंधकार, कोई देख रहा है या नहीं देख रहा है। इस आधार पर उसका आचरण, होगा अपना कदम उठेगा।

स्वप्न क्यों आता है? हम नींद में स्वप्न क्यों देखते हैं? मानसशास्त्रियों की व्याख्या है कि हमारे मन की जो दमित वासनाएं होती हैं, उनको प्रकट होने का जब मौका नहीं मिलता तब वे स्वप्न में प्रकट होती हैं। और इसलिए हमें स्वप्न

विचार आया और हमने उसकी उपेक्षा कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह बीज बो दिया गया और वह बीज जब बड़ा होगा तो निश्चित ही अपना परिणाम लाएगा। हम दुनिया की घटनाओं को देखें। पचास-साठ वर्ष तक जिस व्यक्ति का जीवन यशस्वी रहा, जिस व्यक्ति का पूर्वार्द्ध पूर्ण तेजस्वी और उदितोदित रहा, वही व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में पतित हो गया, नष्ट हो गया। हमें आश्चर्य होता है कि यह कैसे हुआ? जो व्यक्ति पचास-साठ वर्ष तक यशस्वी और तेजस्वी जीवन जी लेता है वह आगे के वर्षों में पतन की ओर कैसे जा सकता है? हम सामान्यतः इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। किन्तु ऐसा घटित होने के पीछे भी कुछ कारण अवश्य होते हैं। यदि हम सूक्ष्मता से ध्यान दें, गहराई से सोचें तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि जो बीज बोया गया था, उसका प्रायश्चित्त नहीं हुआ, वह वृक्ष बन गया, घटना घटित हो गयी।

प्रायश्चित्त यही तो है कि जिस क्षण मन में राग का संस्कार उत्पन्न हुआ, जिस क्षण मन में द्वेष का संस्कार उत्पन्न हुआ, उसे धो डालो, सफाई कर दो, परिवर्तन कर दो। फिर वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह वृक्ष नहीं बन पाएगा। प्रायश्चित्त नहीं होता है तो बीज को पनपने का मौका मिल जाता है, अंकुरित होने का मौका मिल जाता है। कालान्तर में वह वृक्ष बन जाता है, उसके फल लग जाते हैं, उसकी जड़ें जम जाती हैं। अब हमारे वश की बात नहीं रहती। हमें उसके फल भुगतने ही पड़ते हैं। फल भुगतने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है।

अध्यात्म का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें जिस क्षण में राग और द्वेष के बीज की बुवाई होती है।

हम अहिंसक हैं। हमने बहुत स्थूल रूप में मान लिया कि किसी को न मारना अहिंसा है। किन्तु राग-द्वेष के बीजों की बुवाई होती जाएगी तो अहिंसा कैसे हो सकेगी? व्यवहार के जगत् की बात तो ठीक है। कोई आदमी अगर किसी को नहीं मारता है तो वह कानून की पकड़ में नहीं आएगा। कानून उसे पकड़ेगा नहीं, सताएगा नहीं, क्योंकि वह ऐसा कोई काम नहीं कर रहा है, जो कानून की सीमा में आ सके। कानून का सूत्र है—कार्य। ऐसा कार्य जो पकड़ में आ सके। अध्यात्म का सूत्र है—अध्यवसाय। कार्य हो या न हो, अध्यवसाय मात्र जिम्मेदार हो जाता है। ऐसा अध्यवसाय, ऐसा संकल्प, ऐसा विचार, ऐसा परिणाम, जो हिंसा-प्रधान हो, वह आया, भले कुछ किया नहीं, फिर भी आप उस हिंसा से बंध गए। आप अपने आपको कैसा प्रस्तुत कर सकते हैं कि हमने कुछ किया तो नहीं, फिर हम उस घटना के प्रति उत्तरदायी कैसे? अध्यात्म इसे स्वीकार नहीं करता कि आपने क्रिया-रूप में कुछ किया या नहीं। वह वहां तक पहुंचता है कि आपने ऐसा सोचा या नहीं, ऐसा चिन्तन किया या नहीं। अध्यात्म का सारा निर्णय होता है चिन्तन

कि इस ससार मे भोगी जाने वाली बहुत सारी व्याधियो और मानसिक सकट से हम बच सकते हैं और कछुए की भाति अपने लिए ऐसी ढाल बना सकते हैं जिसमे जाकर सारे आक्रमणो, अतिक्रमणो से बचकर अपने-आपको सुरक्षित अनुभव कर सकते हैं।
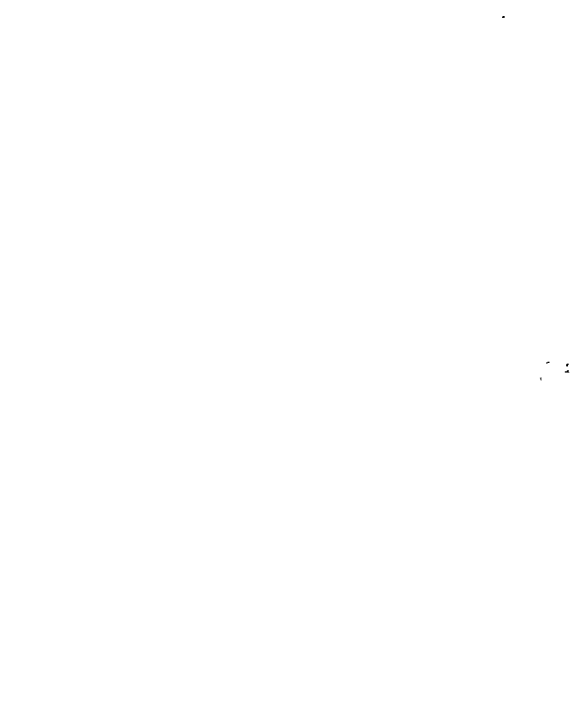
यह संज्ञायुक्त चेतना कहलाती है। संज्ञाएं दस हैं—

1. आहार संज्ञा
2. भय संज्ञा
3. मैथुन संज्ञा
4. परिग्रह संज्ञा
5. क्रोध संज्ञा
6. मान संज्ञा
7. माया संज्ञा
8. लोभ संज्ञा
9. लोक संज्ञा
10. ओघ संज्ञा

हमारी साधना का एकमात्र उद्देश्य है—चेतना में से इन सारी संज्ञाओं को निकाल देना अर्थात् वीतराग बन जाना। यही उद्देश्य है हमारी अध्यात्म-साधना का। चेतना के साथ जो संवेदन जुड़ा हुआ है, संज्ञा जुड़ी हुई है, उसको समाप्त कर देना—यह हमारा स्पष्ट लक्ष्य है। इसमें न कोई चमत्कारिक शक्ति प्राप्त करने का उद्देश्य है और न कोई और। केवल अपनी चेतना का संशोधन, परिमार्जन, या परिष्कार करना है। जब व्यक्ति की चेतना परिमार्जित और परिष्कृत होती है, तब विकास प्रारंभ हो जाता है। क्या हम आहार नहीं करें? क्या आहार संज्ञा को समाप्त करने का यही अर्थ है? नहीं। शरीर के रहते हुए ऐसा सम्भव ही नहीं है कि हम आहार न करें। आहार किए बिना साधना भी नहीं हो सकती। साधना के लिए यदि शरीर जरूरी है तो शरीर के लिए आहार जरूरी है। आहार को नहीं छोड़ा जा सकता, किन्तु आहार के प्रति होने वाली आसक्ति या वासना को छोड़ा जा सकता है।

ये सारी संज्ञाएं कुछ ऐसी ही हैं जैसे साफ पानी में कुछ कीचड़ मिल गया हो। पानी साफ है। उसमें धूल मिल गयी। कूड़ा-कर्कट मिल गया। वह गन्दा हो गया। चेतना शुद्ध है। उसमें संज्ञाएं जुड़ गयी। वह विकृत हो गयी। गंदे पानी को साफ किया जा सकता है। उसकी सफाई की अनेक पद्धतियां विकसित हैं। प्राचीन काल में अनेक पद्धतियां थीं। आज भी हैं। गंदा पानी निर्मल हो सकता है। पानी अपने आप में स्वच्छ है, निर्मल है। उसकी निर्मलता को मिटाया नहीं जा सकता। किन्तु जो कुछ उसमें मिला था, उसे निकाला जा सकता है। उसके निकलने से पानी जैसा का वैसा निर्मल हो जाता है।

हमारी चेतना निर्मल है। उसकी निर्मलता को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। वह कभी नहीं मिटती। केवल उसमें इतना सा अन्तर आता है कि जब उसमें संज्ञाओं का कूड़ा-कर्कट मिल जाता है, संवेदनाओं की गन्दगी मिल जाती है, तब चेतना भी गन्दी हो जाती है। उसकी स्वच्छता मिट जाती है, आवृत हो जाती है। दर्पण अंधा बन जाता है। जब दर्पण अंधा हो जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्बों को ग्रहण करने का सामर्थ्य कम हो जाता है या मिट ही जाता है। उसे साफ करने पर पुनः उसकी क्षमता प्रकट हो जाती है और वह प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में सक्षम हो जाता है।

जो चित्त संज्ञा में फंसा हुआ होता है, संवेदना में उलझा हुआ होता है, वह है
लौकिक चित्त। जो चित्त इन दसों संज्ञाओं से दूर चला जाता है, उनकी पकड़ से
मुक्त हो जाता है, वह है लोकोत्तर चित्त। जिसे लोकोत्तर चित्त का लाभ होता
है, वह नो-संज्ञोपयुक्त बन जाता है। एक ही शक्ति दोनों काम करती है। वही
ऊर्जा, वही प्राण और वही शक्ति लौकिक चित्त के काम आती है और वही
ऊर्जा, वही प्राण और वही शक्ति लोकोत्तर चित्त के काम में आती है।

शरीर में दो मुख्य केन्द्र हैं। एक है काम-केन्द्र और दूसरा है ज्ञान-केन्द्र।
नाभि के नीचे का स्थान कामकेन्द्र है, वासनाकेन्द्र है। मस्तिष्क है ज्ञानकेन्द्र।
हमारे शरीर में ऊर्जा का एक ही प्रवाह है। जहां मन जाएगा, वहां ऊर्जा जाएगी।
जहां मन जाएगा, वहां प्राण जाएगा। यदि हमारा मन, हमारा चिन्तन कामकेन्द्र
की ओर ज्यादा आकर्षित होता है तो उसे बल मिलेगा, शक्ति मिलेगी और वह
समृद्ध होगा। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिंचन मिलता है वह पुष्ट
होता है, जिसे सिंचन नहीं मिलता वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है। जिसे
सिंचन प्राप्त है, वह बढ़ता है, फलता-फूलता है। जिसे सिंचन प्राप्त नहीं है, वह
टूट जाता है, ठूंठ मात्र रह जाता है। हमारी ऊर्जा का जिसे सिंचन मिलेगा, वह
अवश्य पुष्ट होगा, बढ़ेगा, फलेगा-फूलेगा, फिर चाहे वह कामकेन्द्र को मिले या
ज्ञानकेन्द्र को मिले। यदि हमारा चिंतन नीचे की ओर जाता है, कामकेन्द्र की ओर
जाता है, तो हमारी ऊर्जा का प्रवाह उस ओर मुड़ जाता है। हमारी सारी प्राण-
शक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है। तब कामकेन्द्र बलवान् होता जाता
है और ज्ञानकेन्द्र कमजोर होता जाता है। यह है लौकिक चित्त की प्रक्रिया। यह
है लौकिक चित्त का कार्य। लौकिक चित्त सदा कामना को पुष्ट करता है, काम-
केन्द्र को सिंचन देता है, बलवान बनाता है। हम यह भली भांति जानते हैं कि
मनुष्य के जीवन में कामना का जितना तनाव होता है उतना तनाव किसी का भी
नहीं होता। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरन्तर रहने वाला तनाव है। क्रोध का
आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है किन्तु काम की
चेतना निरन्तर रहती है। जब हमारी चेतना कामकेन्द्र की ओर अधिक बहने
लगती है तब सहज ही ज्ञानकेन्द्र की शक्तियां क्षीण होती जाती हैं। साधना में
इसे उलटना होता है। जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, जो अपनी
शक्तियों का विकास चाहता है, जो निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को
उलटना होगा, मोड़ना होगा। अर्थात् मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा।

ऊपर देखो, ऊपर की ओर देखो। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मोक्ष
की ओर देखो। मोक्ष बहुत दूर है। इतने दूर क्यों जाएं? निकट में देखें और मन
की गति को मस्तिष्क की ओर कर दें। गति को बदल दें। प्राण की धारा के
प्रवाह को मोड़ दें। उसकी गति को बदल दें। उसे ऊपर की ओर कर दें। उसे

उद्दीप्ति का कारण है। हम चेतना को उस ओर ले जाते हैं और तब उनके उभरने का मौका मिल जाता है। यदि चेतना उस ओर नहीं जाती है तो उनके उभरने का अवसर ही नहीं मिलता। इसीलिए महर्षियों ने बहुत गहराई में जाकर यह कहा कि साधक 'विकथा' न करे। यह बहुत गहरी बात है, मर्म की बात है। साधक चर्चा कर सकता है पर उसे 'विकथा' नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यदि विकथा में उसका मन संलग्न हो गया तो फिर प्राण की समूची धारा उधर बहने लग जाएगी। साधना का क्रम टूट जाएगा। इसलिए ऊर्जा को किस ओर बहाना है, इस पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है।

साधना की दृष्टि से जागरण का सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जागरण का अर्थ ही है - प्रवहमान ऊर्जा के प्रति जागरूकता। उसका प्रवाह किस ओर हो रहा है? यदि प्रवाह नीचे की ओर हो रहा है तो उसे मोड़कर ऊपर की ओर कर दें।

दस संज्ञाएं हैं। उनमें से आठ संज्ञाएं बहुत स्पष्ट हैं—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा और लोभ संज्ञा ये स्पष्ट हैं। इनकी प्रतीति होती रहती है। दो संज्ञाएं और हैं—लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा। इनके विषय में हम कुछ जान लें।

'लोक' शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक अर्थ है शरीर। लोक संज्ञा का अर्थ है—देहासक्ति। आदमी में ही नहीं, हर प्राणी में देहासक्ति होती है। शरीर के प्रति उसका लगाव होता है। वह उसे बचाने का प्रयत्न करता है। साधक के सामने शरीर को बचाने की बात मुख्य नहीं होनी चाहिए। शरीर की सार-संभाल आवश्यक है। पर मुख्य नहीं। उसे प्रथम स्थान नहीं दिया जा सकता। उसे दूसरा स्थान ही दिया जा सकता है।

लोक-संज्ञा का एक अर्थ है—लौकिक मान्यताओं को दिमाग में भर लेना। बहुत सारी मान्यताओं को हम दिमाग में भर लेते हैं। उनके कारण चेतना की विकृतियां और उभरती जाती हैं। एक छोटी-सी बात—लोक-प्रचलन के अनुसार हमने मान लिया कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। हमने इस बात को पकड़ लिया। चेतना में एक छिद्र हो गया। चेतना के साथ विष घुल गया। अब हम कुछ कर ही नहीं सकते, क्योंकि मन में एक दृढ़ निश्चय हो गया कि बदला नहीं जा सकता। बहुत गंभीर बात है कि धारणा बनाने के पहले सत्य को ठीक से समझ लें। अन्यथा जो धारणा बन जाती है, वह छूटती नहीं। हम उस धारणा से प्रतिबद्ध हो जाते हैं। चेतना का सारा प्रवाह उलटा हो जाता है।

एक बहुत बड़ा प्रश्न है—मनुष्य की स्वतंत्रता का। क्या हम मनुष्य करने में स्वतंत्र हैं? इस प्रश्न पर भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों ने काफी चिन्तन-मनन किया है।

हमारे ऊपर पड़ता है और जब वह प्रबल नहीं होती, मंद होती है, तब प्रभाव भी तीव्र नहीं होता, मंद होता है। वह क्षीण होता है। इसी तथ्य को आगम में इस प्रकार समझाया है। भीत पर मिट्टी के दो गोले फेंके गए। एक गीला था, एक सूखा था। जो गीला था, वह भीत पर चिपक गया और जो सूखा था, वह नीचे भूमि पर गिर गया। गीला चिपक जाता है, सूखा नीचे झड़ जाता है। यदि भीत गीली होगी तो उस पर धूल अवश्य चिपकेगी। यदि वह सूखी होगी तो धूल नीचे झड़ जाएगी, चिपकेगी नहीं। कषाय चेतना गीलापन है। वह जब प्रबल होती है तब बाह्य परिस्थितियां प्रबल रूप में प्रभावित करती हैं। जब वह प्रबल नहीं होती, तब बाह्य वातावरण प्रभावित नहीं करता। आकाश आकाश है। उसे कोई प्रभावित नहीं कर सकता। चाहे वर्षा हो, चाहे ओले गिरें, चाहे आंधी और तूफान चलें, चाहे बिजली गिरे और चाहे कुछ भी हो, आकाश यथावत् आकाश ही रहता है। वह न वर्षा से गीला होता है और न आंधी में धूमिल ही होता है। न वह ओलों से धड़-धड़ होता है और न बिजली से जलता है। धूप कितनी ही तेज क्यों न हो, आकाश कभी गर्म नहीं होता। बर्फ चाहे कितनी ही पड़े, आकाश कभी ठंडा नहीं होता।

चेतना यदि विशुद्ध है तो बाहर कुछ भी होता हो, व्यक्ति पर असर कोई नहीं होगा। चेतना में संज्ञा का लेप होता है। वह बाहर की बात को पकड़ लेती है। ाहर की बात उस पर चिपक जाती है। तब उत्तेजना बढ़ती है।

हम इस तथ्य को भी स्पष्टता से समझें कि लौकिक मान्यताओं के आधार पर ानी धारणाएं न बनाएं। इस लोक संज्ञा को भी छोड़ देना है।

संज्ञा को यदि हम एक शब्द में समझना चाहें तो वह है—मूर्च्छा। जैसे भय मूर्च्छा को तोड़ना है, काम की मूर्च्छा को तोड़ना है, कषाय की मूर्च्छा को ना है, परिग्रह की मूर्च्छा को तोड़ना है, वैसे ही लोक मूर्च्छा, लौकिक धारणाओं र्च्छा को भी तोड़ना है। इसकी मूर्च्छा प्रबल होती है। जब तक यह नहीं तब तक दूसरी मूर्च्छाओं को तोड़ने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हम मान्यताओं में उलझ जाते हैं। जिनकी चिन्तन-क्षमता कम होती है, वे बहुत उलझते हैं। इस खतरनाक घाटी को पार करना है, लोक संज्ञा को समाप्त कर डालना है।

एक संज्ञा है—ओघ संज्ञा यानी सामूहिक चेतना या प्रवाहपाती चेतना। हमने सुना है बहुत बार। लोग कहते हैं—डरना क्या है, जो सबको होगा वही मुझे होगा, हो जाएगा। यह प्रभावशाली चेतना है। एक प्रवाह के साथ अपने को जोड़ देना और उसके संयुक्त होकर अपने बुरे आचरण को प्रवाहपाती चेतना द्वारा संरक्षण देना। 'जो सबको होगा, वह मुझे भी होगा, कोई चिन्ता की बात नहीं'—यह बहुत ही खतरनाक चेतना है। जब हम इस चेतना से ग्रस्त जाते हैं,

यदि ध्येय स्पष्ट नही रहा, शक्ति कम है और ज्यादा काम करने की बात सोच ली गयी, तो सभव है कि बीच मे ही भटक जाए।

एक सुन्दर कहानी है। एक सेठ था। उसके दो लड़के थे। सेठ ने सोचा, किसको उत्तराधिकारी बनाऊ? उसने परीक्षा लेनी चाही। वह बहुत सम्पन्न था। दोनो बेटों को पांच-पांच लाख रुपए दे दिए। उसने कहा—'जाओ, मैंने तुमको रुपए दिए हैं। अपने राज्य के प्रत्येक शहर मे एक-एक कोठी बनाओ और तीन माह के भीतर-भीतर मुझे सूचना दो।' वे गए। राज्य मे अनेक शहर थे। समय पूरा हुआ। तीन माह बीत गए।

एक लड़का आया। वह थका-मांदा था, सुस्त था। सेठ ने पूछा—'कोठिया बना दी?' उसने कहा—'हां, कुछ शहरो मे बनाई है। सब शहरो मे कैसे बना पाता? आपने जो धन दिया, वह तो तीन-चार कोठियों के निर्माण मे ही पूरा हो गया।'

दूसरा बेटा भी आ गया। वह प्रसन्न दीख रहा था। सेठ ने पूछा—'कितनी कोठियां बनाईं?' उसने कहा—'पिताजी, सभी शहरो मे कोठियां बना दी हैं।' 'कितना व्यय हुआ?' सेठ ने पूछा। बेटे ने कहा—'कुछ नहीं लगा। पांच लाख वैसे के वैसे पड़े हैं।' 'कैसे किया तुमने?' वह बोला—'सभी शहरों मे मैंने मित्र बनाए। इतने गहरे मित्र कि उन सबकी कोठियां मेरी अपनी कोठियां हैं। जब चाहे तब वहां जा सकते हैं।' पिता प्रसन्न हुआ।

हम समझें इस बात को कि शक्ति का उपयोग हम कर सकते हैं, किन्तु अपनी शक्ति को तोलकर, समझकर कि कितनी शक्ति है? उस शक्ति का उपयोग कैसे हो? यदि स्वय की शक्ति का ठीक विवेक होता है तो सभी स्थानो पर कोठिया बन जाती हैं, और यदि शक्ति का ठीक अदाजा नहीं होता है, ठीक निर्णय नही होता है, शक्ति के व्यय का ठीक विवेक नही होता है तो थोड़ी कोठिया बनती हैं और धन चुक जाता है।

राजगढ़ शिविर

(७ जून, १९७३ से १७ जून, १९७३)

हिसार शिविर

(२ अक्टूबर, १९७२ से ८ अक्टूबर, १९७२)

१५

शरीर और उसके विशिष्ट केन्द्र

हमारे शरीर के तीन मुख्य भाग हैं—ऊपर का, मध्य का और नीचे का। इन तीनों में शक्ति के स्रोत छिपे पड़े हैं। शरीर-शास्त्रियों ने शरीर को एक विशेष कोण से देखा है। वह कोण सर्वविदित है। किन्तु योग के मनीषियों ने इसे दूसरे कोण से देखा। उन्होंने बताया—शरीर में कुछेक सुप्त केन्द्र हैं, चैतन्य केन्द्र हैं, ज्ञान-केन्द्र हैं। उन्हें जागृत करने पर, सक्रिय करने पर शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है और शक्ति का विशेष अनुभव होने लगता है। भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में बताया है—'आयतचक्खू लोगविपस्सी', 'लोगस्स अहे भागं जाणई, उड्ढं भागं जाणई, तिरियं भागं जाणई'—जो आयतचक्षु होता है, सयतचक्षु होता है, जो लोकदर्शी होता है, जिसकी खुली आंखें एक बिन्दु पर स्थित हैं, वह लोकदर्शी ऊर्ध्वलोक को भी देखता है, मध्यलोक को भी देखता है और अधोलोक को भी देखता है।

लोक हमारा शरीर है। वस्तु को पुरुष के माध्यम से या लोक के माध्यम से समझाने की पुरानी पद्धति है। जैन परम्परा में लोक को समझाने के लिए लोक-पुरुष की कल्पना की। पुरुष के साथ लोक की तुलना की। पुरुष के शरीर के तीन भाग होते हैं—ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभाग। इसी प्रकार लोक के तीन भाग होते हैं—ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभाग। यहां लोक का अर्थ है—शरीर, पुरुष शरीर। पुरुष शरीर के तीनों भागों पर ध्यान किया जाता है। भगवान् महावीर तीनों भागों पर ध्यान किया करते थे। ये तीनों भाग ध्यान के मुख्य केन्द्र हैं। पहला भाग है—कपाल, मस्तिष्क के ऊपर का भाग, मस्तिष्क—यह ध्यान का मुख्य केन्द्र है, शक्ति का मुख्य केन्द्र है। दूसरा भाग है—भृकुटी या आज्ञाचक्र। तीसरा भाग है—विशुद्धि चक्र जो कण्ठमणि का स्थान है।

चौथा भाग है—मनःचक्र। हमारे पेट की सीध में, नाभि से बारह अंगुल ऊंचा जो स्थान है, वह है मनःचक्र। जैन परम्परा में 'रुचक प्रदेश' की बात आती

उसका रंग है भूरा—कुछ पीला, कुछ सफेद। वहां श्वेत वर्ण (मटमैला) का ध्यान लाभप्रद होता है। सहज शक्ति प्राप्त होती है वहां के परमाणुओं को। मस्तिष्क अपने आप शक्तिशाली हो जाता है। हमारे ज्ञानकेन्द्र के तन्तु सक्रिय हो जाते हैं, जाग जाते हैं।

अब प्रश्न आया कि 'णमो आयरियाणं' का ध्यान कहां करें? आचार्य आचार के प्रतीक हैं। आचार का अर्थ है—पवित्रता। पवित्रता का स्थान है—गले के पास। वहां यदि हम ध्यान केन्द्रित करेंगे तो हमारे में आचार की भावना सहज ही जागृत होगी। हमारी पवित्रता जागृत होगी। वहां हमें पीले रंग का ध्यान करना होगा। पीत वर्ण भावना में वेग लाता है। 'एनोटॉमी' के अनुसार शरीर के स्राव सर्दी, गर्मी आदि का नियंत्रण करते हैं। जिसमें स्राव कम होता है, वह आदमी असमय में ही बूढ़ा हो जाता है। क्षीण हो जाता है। शरीर का उपचय रुक जाता है। जिसमें स्राव संतुलित है, उसके शरीर का भी उसी संतुलन से विकास होता रहेगा। यह स्राव हमारे शरीर पर नियंत्रण करने वाला है, हमारी ग्रन्थियों का नियामक तत्त्व है। 'नमो आयरियाणं' का ध्यान, पीत वर्ण के साथ, इस निर्दिष्ट स्थान पर करें। पीत वर्ण सद्भाव और आचार को पोषण देने वाला होता है। पीत वर्ण का ध्यान करने वाला व्यक्ति जैसे ज्ञान का विकास करता है, वैसे ही पवित्र भावना का भी विकास करता है। आप देखेंगे कि पवित्र भावना के प्रतीक के रूप में जहां रंगों का चुनाव हुआ है, वहां पीले रंग को महत्त्व दिया है, पीत वर्ण को मुख्य स्थान मिला है।

'णमो सिद्धाणं' के ध्यान का स्थान है ललाट, आज्ञाचक्र। इसका वर्ण है—रक्त। आज्ञाचक्र हमारी समूची सक्रियता को उत्पन्न करता है। शरीर पर नियंत्रण रखना, ज्ञानात्मक नियंत्रण रखना इसका मुख्य कार्य है। लाल वर्ण बहुत उत्तेजना, सक्रियता और गति देने वाला है। जो व्यक्ति लम्बे समय तक लाल वर्ण पर ध्यान करता है, उसे खतरा भी उठाना पड़ सकता है। लाल वर्ण से अतिरिक्त ऊष्मा पैदा होती है। वह खतरा पैदा कर देती है। रक्त की सारी सक्रियता लालिमा के कारण ही है। आज्ञाचक्र का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'णमो उवज्झायाणं'—उपाध्याय का ध्यान करने का स्थान है—मन-चक्र। कुछ इसे हृदय-स्थान मानते हैं। इस पर बहुत मीमांसा हो चुकी है। यह हृदय का स्थान नहीं है। यह मन चक्र का स्थान है। मन-चक्र पर उपाध्याय का ध्यान करना होता है। मन चक्र का स्थान नाभि के बारह अंगुल ऊपर है। प्राचीन काल में इसे हृदयचक्र माना जाता था। उपाध्याय का ध्यान नील वर्ण के साथ किया जाता है। नील वर्ण बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपके मन में उत्तेजना है, जटिलता है, चिन्ता है। आप उन उलझनों और जटिलताओं को सुलझाने में अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं। उस स्थिति में आप नीले आकाश की ओर थोड़ा स्थिर

है। जो डॉक्टरी पढ़ता है, डॉक्टर बनता है, वह इन सब बातों को सूक्ष्मता से जानता है। किन्तु मस्तिष्क के अतिरिक्त इसके सहयोगी के रूप में दूसरे केन्द्रों को विकसित करने से हमारे भावपक्ष, ज्ञानपक्ष और क्रियापक्ष की कौन-कौन-सी चेष्टाएं उभरती हैं, यह उसका विषय नहीं बनता। आज इस पर भी वे कार्य कर रहे हैं, पहले यह क्षेत्र उनके लिए अवरुद्ध था।

मैंने सूक्ष्म शरीर की बात छोड़ दी। उसको सक्रिय करने के उपाय भी हैं। यहां उनकी चर्चा नहीं करूंगा।

हमारा निकट का संबंध इस स्थूल शरीर से है। उसके मुख्य केन्द्रों को कैसे सक्रिय किया जाए, इसकी संक्षिप्त चर्चा मैंने की है। यदि हम इस पर ध्यान दें तो अपनी भावना के अनुसार हम अमुक-अमुक केन्द्रों को सक्रिय कर लाभ उठा सकते हैं।

आंख का गोलक ठीक नहीं है तो आदमी देख नहीं पाता। जो देखता है वह आंख नहीं है। आंख में देखने की शक्ति नहीं है। वह अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। किन्तु गोलक के बिना वह देख नहीं पाती। गोलक और, आंख दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

हम जब साधना की दृष्टि से सोचते हैं तब शरीर को काफी कोसते हैं, गालियां देते हैं। यह गाली के योग्य है तो प्रशंसा के योग्य भी है। यदि शरीर नहीं होता तो हमारी यह दुनिया कुछ भी नहीं होती। व्यक्त कुछ भी नहीं होता। सारी दुनिया अव्यक्त ही रह जाती। साधना की दृष्टि से भी शरीर का बहुत महत्त्व है। शरीर नश्वर है। उसकी सारी शक्तियों को वह अभिव्यक्ति देता है। हमारे सामने प्रस्तुत करता है। जो दीखता है वही शरीर नहीं है। यह तो स्थूल शरीर है। यह शक्ति-शाली है पर दूसरे शरीरों की तुलना में कम शक्तिशाली है। वे दूसरे शरीर हैं—सूक्ष्म शरीर। नास्तिकों ने भी इस स्थूल शरीर में आत्मा को खोजने का प्रयत्न किया है। राजा प्रदेशी ने चोर के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर आत्मा को खोजा। आत्मा नहीं मिली। आज के वैज्ञानिक भी इस स्थूल शरीर को मुख्य मानकर आत्मा की खोज में लगे हैं। मरने से पूर्व शरीर को तोलते हैं, मरने के बाद पुन शरीर को तोलते हैं और यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि दोनों शरीर के वजन में कितना अन्तर आया। यदि वजन घटा है तो कोई वस्तु शरीर से निकलकर चली गयी है। वही आत्मा है। यदि वजन बराबर होता है तो कोई वस्तु बाहर नहीं गयी। जैसा पहले था वैसा ही अब है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। किन्तु यह बहुत ही स्थूल बात है। आत्मा अभी कहां? अभी तो यह स्थूल शरीर है। यह तो प्रथम द्वार है। इसके आगे है—सूक्ष्म शरीर। वे दो हैं—वैक्रिय और आहारक। ये स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म हैं। वैक्रिय शरीर की क्रियाएं नानारूपों में प्रकट होती हैं। हमारे स्थूल शरीर की क्रिया एक ही है, अर्थात् वह एक रूप में [illegible]ता है। वह रूप नहीं बदल सकता। किन्तु वैक्रिय शरीर में वह शक्ति होती है [illegible] वह नाना रूपों में बदल सकता है। यदि आवश्यकता हुई तो वह एक कमल पुष्प में समा सकता है और आवश्यकता पड़ने पर वह विष्णुकुमार की भांति एक लाख योजन का रूप बना सकता है। आवश्यकता होने पर पशु-पक्षी के रूप भी धारण कर सकता है। यह सूक्ष्म शरीर नानारूप धारण करने में समर्थ होता है।

एक है आहारक शरीर। यह भी सूक्ष्म है। यह है विचारों का संवाहक शरीर। मेरे मन में विचार आया कि अमुक व्यक्ति से मिलना है, अमुक व्यक्ति से बातचीत करनी है। वह यहां नहीं है, कहीं दूर रह रहा है। उससे कैसे मिलूं? कैसे बातचीत करूं? उसी समय अकस्मात् में एक सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। उसका संस्थान छोटा होता है। वह शरीर हजारों मील की दूरी क्षण भर में तय कर ईप्सित व्यक्ति के पास पहुंच जाता है। उसके सामने मेरे प्रश्न रखता

ने इस शरीर का मूल्य है। बहुत सारी दृष्टियों से हमने इसका बहिष्कार किया क्योंकि यह हमें वासना की ओर प्रेरित करता है। हमारे साहित्यकारों ने जीभ को, आंख को हजारों गालियां दी हैं, बुरा-भला कहा है। कुछ साधकों ने कहा कि आंख को फोड़ देना ही बहुत बड़ी साधना है, क्योंकि यह विकृति का सशक्त माध्यम है। आंखों को फोड़े बिना साधना नहीं हो सकती। वे सचमुच आंख को फोड़ देते हैं, सदा-सदा के लिए अंधे हो जाते हैं।

साधना के लिए शरीर का उपयोग क्या है? शरीर के दो मुख्य भाग हैं—मस्तिष्क और सुषुम्ना। मस्तिष्क सारे शरीरतन्त्र का नियामक और संचालक है। आंख देखती है। देखने का तंत्र मस्तिष्क में है। कान सुनता है। सुनने का तंत्र मस्तिष्क में है। सारे ज्ञान का ग्राहक और संचालक संस्थान है—मस्तिष्क। सारी स्मृतियां यहां संगृहीत हैं। मस्तिष्क को जागृत करना स्मृतिकोषों को जागृत करना है। हमारा मस्तिष्क बहुत शक्तिशाली है। अरबों कोष हैं, जहां अरबों संस्कार संगृहीत हैं। स्मृतियां संगृहीत हैं। अवधान विद्या उन्हीं स्मृतिकोषों का चमत्कार है।

नंदीसूत्र में मतिज्ञान का विस्तार से वर्णन है। वहां उसके बारह प्रकार निर्दिष्ट हैं—बहुग्राही, क्षिप्रग्राही आदि-आदि। ये सारे मस्तिष्क की शक्ति के द्योतक हैं। उनका विवेचन समय-सापेक्ष है। आज यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हमें हमारे स्थूल शरीर की शक्तियों के विषय में पूरी जानकारी होनी चाहिए। हमारे शरीर में मस्तिष्क, पृष्ठरज्जु, कंठ, भृकुटी, तालु, नासाग्र, नाभि, मूलबंध का स्थान तथा पैर के अंगूठे—ये मुख्य केन्द्र हैं। इनको जानना आवश्यक है। इनके द्वारा हम स्थूल शरीर को जागृत करें और उसकी जो शक्तियां हैं उनसे लाभान्वित हों। यह कहा जा सकता है कि यदि हम स्थूल शरीर की शक्तियों के साथ विभाग करें तो हम वर्तमान में केवल दो-चार विभागों की शक्तियों का ही उपयोग कर पाते हैं। शेष शक्ति सुषुप्त रहती है, जागृत नहीं होती। हमें इस शक्ति का बोध होना चाहिए।

धर्म ने यही तो कहा, अध्यात्म ने यही तो बताया, साधना यही तो सिखाती है कि तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो। तुम अपनी शक्ति-संपदा को देखो, समझो और उसका अनुभव करो। तुम स्वयं ही भिखारी बनकर दर-दर क्यों भटकते हो? क्यों भीख मांगते हो? यह भान तभी हो सकता है जब हमें शरीर का पूरा बोध हो। हम शरीर की उपेक्षा ही न करें, उसकी अपेक्षा के अनुरूप उसे सम्मान दें, आदर दें।

हो जाती हैं। इस दृष्टि से प्राणायाम का बहुत बड़ा महत्त्व है।

प्राण के सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं किन्तु प्राण की धारा के दो मार्ग हो सकते हैं। उसका एक बाहरी रास्ता है और एक भीतरी रास्ता है। बाहरी रास्ता है आगे का। आगे के रास्ते से प्राणशक्ति जाती है तो वह हमारे शरीर-तन्त्रों को सक्रिय बनाती है। हमारी जो नॉर्मल शक्ति है, वह उसी से उत्पन्न होती है। वह अतिरिक्तता नहीं लाती। वह हमारे दस प्राण केन्द्रों को सक्रिय करती है और जीवन-यात्रा को सही ढंग से चलाती है। जब हम प्राणशक्ति के प्रवाहित होने वाले इस मार्ग को बदल देते हैं तो वहां भिन्न प्रकार की शक्ति पैदा होती है।

प्राणधारा के प्रवाहित होने का भीतरी रास्ता है—'महावीथी'। यह शब्द आचारांग में आया है—'पणया वीरा महावीहिं'। न जाने सूत्रकार का आशय क्या था? व्याख्याकारों का आशय क्या था? किन्तु ऐसा लगता है कि यह सूत्र प्रणधारा को पृष्ठरज्जु से ऊर्ध्वगामी बनाने का सूत्र है। इसका अर्थ है—जो वीर हैं वे महापथ से चल पड़े हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में सुषुम्ना का एक पर्यायवाची नाम है—'महापथ'। लगता है—महावीथि और महापथ एक हैं। वीर वे होते हैं जो महावीथि पर चल पड़ते हैं। सुषुम्ना के मार्ग से जाना किसी वीर का ही कार्य है। सामान्य मनुष्य उस मार्ग से नहीं जा सकता। सुषुम्ना के मार्ग से जाती हुई प्राणधारा, सुषुम्ना के कोणों में रही हुई शक्ति को समेटती हुई ले जाती है और अधिक शक्तिशाली बन जाती है। ये प्राणधारा के दो मार्ग हैं—अग्रगामी या बाहरी और पृष्ठरज्जुगामी या भीतरी।

प्राणायाम करने वाला, प्राणवायु के मर्म को समझने वाला साधक प्राणवायु से प्राण को उत्तेजित करता है। फिर कुंभक कर सुषुम्ना के मार्ग पर धक्के लगाता है, फिर प्राण को ऊपर ले जाता है। जितनी मात्रा में प्राण ज्ञानकेन्द्र तक, सहस्रार तक पहुंचता है, उतना ही हमारा बौद्धिक और आन्तरिक विकास होता है। प्राणधारा नीचे की ओर बहती है, मन के साथ उसकी गति होती है तो आवेग और वासनाएं उभरती हैं। प्राण और मन का गहरा संबंध है। प्राणधारा नीचे जाती है तो मन भी नीचे जाता है। प्राणधारा ऊपर जाती है तो मन भी ऊपर जाता है। मन नीचे जाता है तो प्राणधारा भी नीचे जाती है। मन ऊपर जाता है तो प्राणधारा भी ऊपर जाती है। इसलिए जरूरी है कि हम मन को ऊर्ध्वगामी बनाएं, प्राणधारा को ऊर्ध्वगामी बनाएं।

खींचना, आहरण करना। हम मुंह से लेते हैं। कितनी बार? सामान्यत दो बार। अधिक-से अधिक दस-बीस बार। किन्तु यह बहुत स्थूल बात है। सूक्ष्म बात यह है कि हम क्षण-क्षण में आहार लेते हैं। उस आहार के बिना हमारा जीवन चल भी नहीं सकता। जैन परिभाषा में उसकी संज्ञा है—'रोम आहार'। जो मुंह में लिया जाता है, वह है—'कवल आहार' और जो शरीर के रोम-रोम से लिया जाता है, वह है 'रोम आहार'। वास्तव में यही हमारे जीवन का आधारभूत आहार है। इसके बिना जीवन चल नहीं सकता। मुंह से खाए बिना तीस, चालीस, पचास दिन जी भी सकते हैं किन्तु रोम आहार के बिना जी नहीं सकते।

पहला आहार है—कवल आहार, दूसरा है—रोम आहार और तीसरे प्रकार का आहार—मनो आहार, मानसिक आहार। इसमें न शरीर की जरूरत है, न कवल की जरूरत है और न रोम की जरूरत है। मन में संकल्प किया और आहार की पूर्ति हो गयी। वह है—मनोभक्षी आहार, मानसिक आहार। ये तीन प्रकार के आहार हैं—कवल आहार, रोम आहार और मनो आहार। ये हमारे शरीर को नया स्वरूप प्रदान करते हैं और हमारी स्थूल धारणाओं को मिटाते हैं आहार के विषय में आज अनेक भ्रान्तियां पैदा हो गयी हैं। उनके कारण मनुष्य अनेक कठिनाइयां भुगत रहा है। क्योंकि उसने यह अंतिम सत्य मान लिया कि जो मुंह से खाया जाता है, वही पर्याप्त है जीवन के लिए। यह पर्याप्तता का भ्रम हो गया। आज 'संतुलन आहार'—यह शब्द बहुत प्रचलित है। संतुलित आहार का अर्थ है—वैसा भोजन जिसमें सभी तत्त्व संतुलित मात्रा में विद्यमान हों। यह आहारशास्त्रियों का अभिमत है। योगशास्त्रियों का अभिमत इससे भिन्न है। उनके अनुसार संतुलित आहार वह होता जिसमें ये चार तत्त्व पाए जाते हैं—खाद्य, जल, वायु और प्रकाश। शरीरशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत संतुलित आहार की परिधि में खाद्य और जल—ये दो ही आते हैं, शेष दो छूट जाते हैं। मैं मानता हूं कि यथार्थ में वह आहार संतुलित नहीं हो सकता जिसमें वायु और प्रकाश (धूप) को स्थान न हो। आपका प्रश्न हो सकता है कि खाद्य और जल से भूख शान्त होती है, जठराग्नि शान्त होती है, फिर वायु और धूप से प्रयोजन ही क्या है? क्या उनसे भूख शान्त होगी? क्या उनसे भूखा पेट भर जाएगा? और यदि उनसे पेट भर जाता हो तो विश्व की बहुत बड़ी समस्या समाहित हो सकती है। अन्न का अभाव मिट सकता है। मैं आपको पूर्ण विश्वास दिलाना नहीं चाहता कि उनसे पेट भर जाता है किन्तु मुझे विश्वास है कि मेरी बात पूरी सुनने के बाद आप इससे सहमत हो जाएंगे कि उनसे पेट भरता है।

मैं पहले धूप की बात लेता हूं। धूप या प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। [illegible] शरीर को विटामिन 'डी' की आवश्यकता होती है। बहुत आवश्यकता है शरीर

मे आहार लेने की आवश्यकता होती है। जो पूरी मात्रा मे प्राणवायु ग्रहण करता
है, उसकी खाने की मात्रा कम हो जाएगी।

इस विषय पर यदि हम गहराई मे जाकर सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि
हमारे शरीर मे मुख्यतः चार तत्व हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु। शरीर मे
इन चारो की अपेक्षा होती है। इनको पूरा करना पडता है। खनिज के रूप मे
पृथ्वी तत्त्व की आवश्यकता है। हमारे शरीर के लिए लोहा आवश्यक है, शीशा
आवश्यक है, चांदी आवश्यक है, सोना आवश्यक है। ये सारी धातुएं आवश्यक
हैं। हम दूध पीते हैं। दूध मे अभ्रक होता है। हम जीरा खाते हैं। जीरे मे लोहा
होता है। मा के दूध मे बहुत अच्छी चांदी होती है। हम साग खाते हैं। उनमे
बहुत सारे खनिज होते हैं। मनुष्य स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, लोह भस्म औषधि के
रूप मे लेता है। यह पूरी उपयोगी नही होती। अधिकांश भाग व्यर्थ चला जाता
है। इसीलिए कहा गया है कि खनिजो को भस्म के रूप मे नही किन्तु प्राकृतिक
भोजन मे प्राप्त करने का प्रयास करो। इस आधार पर एक बात सूझती है—जैसे
पदार्थों से लिया जाने वाला खनिज हमारे शरीर मे एकरस नही होता, वैसे ही
वनस्पति से प्राप्त खनिज भी पूरा एकरस नही होता। इसकी अपेक्षा यदि हम
मानसिक आहार के रूप मे, मानसिक संकल्प के द्वारा कोई चीज विकसित कर
सकें तो वे हमारे साथ सुगमता से एकरस हो सकेंगी। इस पर प्रयोग करना
चाहिए। प्रयोग लंबा हो सकता है। मनोभक्षी आहार की बात बहुत महत्त्वपूर्ण
है। वह सूक्ष्म है। पर संकल्प के द्वारा उसे विकसित किया जाए तो बहुत सारे
तत्त्वों की पूर्ति हम मन से कर सकेंगे। मन के द्वारा पूर्ति करने मे कठिनाई हो तो
उससे सरल मार्ग है वायु के द्वारा पूर्ति करने का।

भगवती सूत्र मे बतलाया गया है कि प्राणी छहों दिशाओं से आहार लेता है।
वह पूर्व से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊर्ध्व दिशा से, अधो दिशा से—इन
छहों दिशाओं से आहार ग्रहण करता है। आज ये बातें केवल ग्रन्थों मे रह गयी हैं,
पढ़ने मात्र की रह गयी हैं। अनुसंधान और खोज के अभाव मे इनका हार्द समझा
नहीं जा सकता। सब ओर से हम आहार लेते हैं। क्या हम पैरों से आहार नहीं
लेते? लेते हैं। अवश्य लेते हैं। बताया गया है—जब घूमना हो तो नंगे पैर
घूमो। वह भी सड़क पर नहीं—भूमि पर। जब पांव मे जूते और सड़क भी जाती
है—पक्की सड़क, तब पृथ्वी से साक्षात् मिलने वाला आहार प्राप्त नहीं होता।
नंगे पैरों भूमि पर घूमने से पृथ्वी के सारे तत्त्व खींच लिये जाते हैं। हम अपने सिर
को भी काम में लें। प्राणशक्ति को उत्तेजित करने वाले या सारे सौरमंडल में
विकीर्ण होने वाले तत्त्वों को हम मस्तिष्क के द्वारा ही अपने शरीर में ले जाते हैं।
इसलिए भिन्न भिन्न दिशाओं में सिर रखकर सोने से भला-बुरा लाभ होते हैं, यह
पहले तो यह तथ्य रहा और अनुसंधान इसका
इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं।

है—भाव्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। धारणा का अर्थ भी यही है—जिसकी धारणा करनी है उसके प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। सविषय ध्यान भी यही है। विषय के प्रति या ध्येय के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना सविषय ध्यान है। जप, भावना, धारणा और सविषय ध्यान—चारों एक ही कोटि के हैं। इनमें तात्पर्य-भेद नहीं है, नाम-भेद है केवल।

भावना नौका है। भगवान् महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह जल नौका की तरह है। वह जब चाहे पार पहुंच सकता है। अब इस नौका का उपयोग कैसे हो? यह प्रश्न शेष रहता है। भावना से [illegible]

[illegible]

प्राप्त नहीं किया जा सकता। भावितात्मा होने के बाद जो होना होता है, वह हो जाता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो भी होना चाहते हैं, हो जाते हैं। जो घटित करना चाहते हैं, वह घटित हो जाता है। जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। मन एक आकार का होता है। उसके असंख्य पर्याय हैं। वह भिन्न-भिन्न आकारों में बदलता है। हम जैसा चाहते हैं, उसी प्रकार का आकार वह लेना शुरू कर देता है। यह मन की अपनी विशेषता है। तन्मयता और *एकाग्रता के साथ हमने जो भावना की वैसा ही होना होता है। उसमें कोई अन्तर* नहीं आता। प्रश्न है—उसकी एकाग्रता का, स्थिरता का। मन बदलता है तो साथ-साथ शरीर भी बदलता है।

श्याम की एक घटना है। एक अमेरिकी युवक वहां आया। एक परिवार के साथ ठहरा। परिवार के साथ उसका गाढ़ संपर्क हो गया। उस परिवार में एक वयस्क कन्या थी। युवक का उसके साथ संपर्क बढ़ा। दोनों प्रेमसूत्र में बंध गए। अब विवाह का प्रश्न सामने आया। युवक ने कहा—'अभी मैं विवाह नहीं कर सकता। जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा न हो जाऊं, तब तक यह भार मैं वहन नहीं कर सकता। मैं आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होकर ही विवाह करूंगा, पहले नहीं।' लड़की ने स्वीकार कर लिया। युवक अमेरिका चला गया। लड़की श्याम में ही रही। लड़की के मन में एक विचार आया—पांच-सात वर्ष बाद जब वह *युवक मेरे साथ शादी करने आएगा, तब यह न हो जाए कि मेरा रूप-रंग फीका* पड़ जाए, मेरे यौवन का उभार शिथिल हो जाए। उसने प्रतिदिन भावना प्रारंभ की। वह एक कांच के सामने खड़ी हो जाती और यह भावना करती—'आज जैसी हूं, वैसी ही रहूं।' वह इस भावना में तन्मय, एकाग्र हो जाती। पंद्रह वर्ष बीत गए। युवक अपने पैरों पर खड़ा हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति सुधरी। वह *आत्म-निर्भर हो गया। युवती की स्मृति उसे पल-पल रहती थी। वह श्याम* आया। उसके मन में अनेक विकल्प उठ रहे थे। उसने सोचा—लड़की की स्थिति

बदला जा सकता है, दूसरों को बदला जा सकता है, आस-पास के व्यक्ति को बदला जा सकता है, वातावरण को बदला जा सकता है। एक व्यक्ति का शरीर दुर्बल है, शरीर को स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। एक व्यक्ति का मस्तिष्क दुर्बल है, उसे स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। एक व्यक्ति की आंखें कमजोर हैं, हृदय दुर्बल है, भावना अपवित्र है—इन सबको स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। अनगिन भावनाएं की जा सकती हैं। अनगिन संकल्प किए जा सकते हैं। आज के चिकित्सक, विशेषकर जर्मनी के चिकित्सक, रोगी को दवा की अपेक्षा ऑटो सजेशन (Auto Suggestion) के द्वारा रोगमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं—'जंगल में चले जाओ। वहां एक किसी वृक्ष के नीचे बैठकर समाधिस्थ हो जाओ और अपने आपको यह सुझाव दो कि 'मैं स्वस्थ हूं', 'मैं स्वस्थ हो रहा हूं।' उनका मानना है कि इस पद्धति से व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है।

यह तो सामान्य बात है। जब हम साधना की दृष्टि से विचार करें तो हमें किस प्रकार की भावना करनी चाहिए, इसका भी महत्त्व हमारे समक्ष आ जाता है।

जैन परम्परा में भावना पर बहुत विचार किया गया है। वैसे तो सभी धर्मों ने भावना पर विचार किया होगा, परन्तु जैन साहित्य में इस विषय में बहुत अधिक उल्लेख प्राप्त है। मुख्य भावनाएं चार हैं—

१. ज्ञान भावना
२. चारित्र भावना।
३. तप भावना।
४. वैराग्य भावना।

जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसे सबसे पहले ज्ञान-भावना से अपने आपको भावित करना होगा। भावना का अर्थ विचारों की आवृत्ति नहीं है। भावना का अर्थ है—विचारों की स्थापना, विचारों का दृढ़ीकरण। अभ्यास-काल में विचारों की आवृत्ति भी जरूरी होती है। दोनों बातें आवश्यक हैं—विचारों की आवृत्ति और विचारों का स्थिरीकरण। एक ही बात को आप बार-बार दोहराते रहें, वह भावना बन जाएगी। आप उससे भावित हो जाएंगे। आप ठीक वैसे ही करने लग जाएंगे। एक आदमी दिन में दस-पन्द्रह बार दरवाजा खोलता है, बंद करता है। वह उस क्रिया से भावित होता है, प्रभावित होता जाता है। जैसे ही वह घर में प्रवेश करता है, काम हो या न हो, उसका ध्यान उसी क्रिया की ओर जाता है। वह दरवाजा खोले या न खोले, किन्तु उसकी स्मृति उसी क्रिया में संलग्न हो जाती है। क्योंकि वह उससे भावित हो गया है। व्यक्ति दोनों से प्रभावित होता है—विचार से भी प्रभावित होता है और कार्य से भी प्रभावित

२०

अध्यात्म की साधना

एक व्यक्ति विचारक के पास आकर बोला—सत्य क्या है ? भ्रान्ति क्या है ? विचारक ने उत्तर दिया—मैं जो कहता हू, वह भ्रान्ति है। तुम उसे नही मानते, वह सत्य है।

हम इस दुनिया मे सत्य और भ्रान्ति के चक्र मे पड़े हुए हैं। धर्म का सारा मार्ग सत्य की खोज के लिए है। आदिकाल से मानव सत्य की खोज करता चला आ रहा है। साथ-साथ भ्रान्ति भी चल रही है। यह चलती रहेगी। यदि भ्रान्ति साथ-साथ नहीं चलती तो धर्म की आज कोई अपेक्षा ही नहीं रह जाती। किन्तु जैसे-जैसे धर्म का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे भ्रान्ति का भी विस्तार हुआ है। हम धर्म और अध्यात्म की बात करते हैं सत्य की उपलब्धि के लिए। आदमी सोने का मूल्य कर सकता है, पर मिट्टी का नहीं। क्योंकि वह इतनी सहज और सुलभ है कि हर आदमी उसे प्राप्त कर सकता है। यह सच है कि सोने की तुलना मे मिट्टी का मूल्य हजार गुना अधिक है। सोना आदमी को मार सकता है, पर मिट्टी ने न जाने कितने मरने वालो को उबारा है। फिर भी मिट्टी का मूल्य नहीं आका जा सकता क्योंकि वह सहज है, सुलभ है। हम रोटी का मूल्याकन करते हैं क्योंकि रोटी हमारा जीवन है। परन्तु जो सचमुच जीवन है उसका हम कभी भी मूल्याकन नहीं करते। वह है प्राण। वह है हमारा स्वास्थ्य। साधना की पद्धति मूल्याकन का ही मार्ग है। जहा मतभेद का प्रश्न है वहा हजार सम्प्रदाय हो जाते हैं। लोग कहते हैं—सम्प्रदाय न हो। मैं इस भाषा मे सोचता हू कि हजारो सम्प्रदाय हो। हर व्यक्ति का एक सम्प्रदाय हो। अध्यात्म ही एक ऐसा विकल्प है जहा कोई सम्प्रदाय-भेद नही है। साधना और अध्यात्म मे कोई सम्प्रदाय-भेद नहीं होता। साधना का सबसे बड़ा योग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है—निर्विकल्पता, जहा कोई विकल्प नही, विवाद नही। इसमे मतवाद का प्रश्न ही नही उठता। साधना मे मुह बद होता है, कान बद होते हैं, आखे बद होती है, फिर वहा विवाद का प्रश्न ही कैसे उठेगा? हमारी जो इंद्रिया

इन्द्रिय-संयम

एक कवि था। वह तत्वज्ञानी था। वह अमेरिका में रहता था। उसका नाम था 'दुनबा'। एक दिन वह जा रहा था। अचानक ही आकाश में बादल मंडराने लगे और देखते-देखते मूसलाधार वर्षा होने लगी। बरसात बहुत तेज थी। उसे रुकना पड़ा। उसके पास स्वलिखित डायरी थी। उसमें अनेक कविताएं लिखी हुई थीं। उसको आगे जाना जरूरी था। बरसात में डायरी के भीग जाने का भय लगा। पास में एक दुकान थी। बूढ़ा दुकानदार वहां बैठा हुआ था। उसे डायरी सौंपते हुए कहा—'देखो, मैं तुम्हें यह डायरी सौंप रहा हूं। इसे सुरक्षित रखना। कल लौटते वक्त ले जाऊंगा। बरसात आ रही है। मेरे पास छाता भी नहीं है। यह भीग जाएगी। तुम्हारे पास रखकर जाता हूं। सावधानी से रखना।' दुकानदार ने डायरी लेकर रख ली।

दूसरे दिन कवि दुकान पर आया डायरी लेने। उसने देखा कि दुकानदार डायरी के पन्ने फाड़े जा रहा है और ग्राहकों को पुड़िया बांधकर दे रहा है। वह सन्न रह गया। उसने कहा—'अरे! यह क्या कर रहे हो? डायरी को क्यों नष्ट कर रहे हो?' बूढ़े ने कहा—'क्षमा करें, मेरे से भूल हो गई। मैं भी भूलक्कड़ हूं। मुझे ध्यान ही नहीं रहा कि यह आपकी डायरी है। पर आप घबराइए नहीं। मैंने इसमें से फालतू पन्ने ही फाड़े हैं। जो लिखे जा चुके थे, उन्हें ही फाड़ा है। जो पन्ने कोरे थे, जिन पर कुछ भी नहीं लिखा गया था, वे ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। आप घबराइए नहीं।'

यह दुकानदार का दृष्टिकोण था। उसने यह संतोष मान लिया कि उसने एक भी कोरा पन्ना नहीं फाड़ा। कवि पर क्या बीती होगी, कौन कल्पना कर सकता है? कवि के लिए लिखे हुए पन्ने कोरे पन्नों से मूल्यवान थे। उन पर उसने अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताएं लिख रखी थीं। वे वे कविताएं थीं जो उसे यश के शिखर पर चढ़ाने के लिए पर्याप्त थीं। वह खाली पन्नों का क्या करे?

ठीक हमारी इन्द्रियों पर ऐसा ही घटित होता है। एक इन्द्रिय खाली पन्ने

संयोग मत होने दो, जोड़ो मत। उस धारा को अलग प्रवाहित होने दो। कोई कठिनाई नहीं होगी।

ये दो बातें हैं। एक है—विषय का निरोध करना और एक है—राग-द्वेष का निरोध करना। एक है इन्द्रियों से काम न लेना और एक है इन्द्रियों से काम लेते हुए भी उसके साथ राग-द्वेष को न जुड़ने देना। दो बातें हैं भिन्न-भिन्न। अब हमें सोचना है कि साधना की दृष्टि से कौन-सी बात उचित है। काम न लेना अच्छा है या राग-द्वेष को न जोड़ना अच्छा है। कुछ कहेंगे पहली बात अच्छी है और कुछ कहेंगे दूसरी। मैं यह नहीं कह सकता कि पहली अच्छी है या दूसरी अच्छी है। दोनों का अपना स्थान है, अपना काम है, अपना महत्त्व है।

एक घटना याद आ रही है। एक व्यक्ति साधु के पास आया और बोला—क्या मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर को छोड़ना जरूरी है? साधु ने कहा—कोई जरूरी नहीं है घर छोड़ना। यदि जरूरी होता तो जनक घर में रहते हुए भी विदेह कैसे हो जाते? भरत को आदर्शगृह में कैवल्य की प्राप्ति कैसे हो जाती? यदि जरूरी होता तो भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा को मोक्ष कैसे मिलता? मरुदेवा साध्वी नहीं बनी। भरत ने गृहत्याग नहीं किया। जनक राज्य छोड़कर संन्यासी नहीं बने। फिर भी मरुदेवा मुक्त हो गयी, भरत केवली हो गए और जनक विदेह हो गए।

कुछ दिनों बाद एक दूसरा व्यक्ति उसी साधु के पास आकर बोला—'महाराज! क्या मोक्ष के लिए घर-द्वार को छोड़ना आवश्यक नहीं है?' साधु ने कहा—'बहुत आवश्यक है, बहुत जरूरी है। यदि घर का परित्याग किए बिना ही मोक्ष मिल जाता तो 'शुकदेव' जैसे संन्यासी यहां पैदा कैसे होते? हमारी भारतीय परंपराओं में, जैनों में, बौद्धों में, वैदिकों में जो हजारों-हजारों संन्यासी बने हैं, मुनि बने हैं, भिक्षु बने हैं, वे फिर क्यों बनते संन्यासी? वे क्यों भटकते जंगलों में? वे क्यों अनगिन कष्टों को सहते? क्यों वे अरण्यवासी बनते? क्यों घर को छोड़ साधना करते? मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृहत्याग बहुत जरूरी है।'

एक बार दोनों व्यक्ति कहीं मिल गए। संयोग ही ऐसा था। एक ने कहा—'महाराज ने कहा कि मोक्ष को पाने के लिए घर छोड़ना जरूरी नहीं है।' दूसरे ने कहा—'तुम झूठ बोल रहे हो। मैंने भी पूछा था उसी साधु से। उसने कहा था, मोक्ष पाने के लिए घर छोड़ना बहुत जरूरी है।'

दोनों में विवाद हो गया। दोनों लड़ पड़े। दोनों अपने-अपने विचारों को सीमा तक खींच ले गए। विवाद बढ़ा। समाधान नहीं मिला। दोनों साधु के पास आए। बोले—महाराज! आपने हमें लड़ा दिया, भिड़ा दिया। प्रश्न एक था। हम पर आपने उसके दो उत्तर कैसे दिए? वे उत्तर भी एक-दूसरे से उलटे। हमें समाधान दो।'

मैं स्पष्ट करूं इस बात को। एक परिवार है। उसमें पिता समझता है कि पुत्र पर मेरा अधिकार है, पति समझता है कि पत्नी पर मेरा अधिकार है। संपर्क होने के कारण पिता अपने दायित्व का अनुभव करता है और मानता है कि पुत्र पर उसका अधिकार है। संपर्क के कारण पति अपने दायित्व का अनुभव करता है और मानता है कि पत्नी पर उसका अधिकार है। जहां संपर्क है, दायित्व का बोध है, वहां चिन्ता निश्चित होगी। वे चिन्ता करते हैं। अब होना क्या है कि पिता बैठा है। उसे प्यास लगी है। लड़का पानी का गिलास लेकर नहीं आया। या कल जिस समय पानी पिलाया था, उस समय पानी नहीं लाया तो पिता के मन में भावना जागती है कि लड़का मेरा ध्यान नहीं रखता। मुझे पानी नहीं पिलाता। यह चिन्ता मन में उत्पन्न होती है। क्यों होती है? क्या लड़के के लिए यह जरूरी है कि वह पानी का गिलास लेकर आए? जरूरी हो सकता है, कर्तव्य भी हो सकता है। पर मान लो वह भूल गया, समय पर उसे विस्मृति हो गयी तो क्या पिता के लिए यह जरूरी है कि वह इस बात का भार अपने सिर पर लेकर घूमता रहे? वह इतना दुःखी हो जाए? इतना चिन्तातुर हो जाए? जरूरी नहीं है। पर वह चिन्तातुर इसलिए होता है कि उसे अकेलेपन का अनुभव नहीं है।

हम कई स्तरों में जीते हैं। एक स्तर है कि हम बाहर में यह अनुभव करते हैं कि हम इतने सदस्य हैं परिवार में, चालीस हैं, पचास हैं। परन्तु यहां एक कठिनाई आ जाती है। हम बाहर से यह मानें कि हम पचास हैं, तो भले ही मानें। किन्तु हम भीतर से भी यह मानने लग जाते हैं कि हम पचास हैं, मैं अकेला नहीं हूं, तब ये सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

हमारी अनुभूति दो स्तरों में होनी चाहिए। एक तो है व्यवहार का स्तर जिसमें यह अनुभव होता है कि मैं अकेला नहीं हूं। मेरे पचास और हैं। एक है यथार्थ का स्तर जिसमें यह अनुभव होता है कि मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है। यदि ये दोनों अनुभूतियां साथ-साथ चलती हैं तो कोई समस्या नहीं आती, कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। जब हमारी अनुभूति एकांगी होती है तब समस्या उभरती है। जब व्यक्ति व्यवहार और यथार्थ को मिला देता है तब समस्या उत्पन्न होती है। व्यक्ति जब यह माने कि वह व्यवहार में पचास है और यथार्थ में एक, अकेला, तो कोई समस्या नहीं आती। जब वह यह मान ले कि व्यवहार में वह पचास है और इसीलिए यथार्थ में भी पचास है, अकेला नहीं है, तब समस्या उभरती है। आज पिता बूढ़ा हो गया। कमाने में असमर्थ है। उससे परिवार का जो स्वार्थ सधता था, वह बंद हो गया। ऐसी स्थिति में परिवार वालों की उसके प्रति उपेक्षा होती है। वे उसकी बात पर ध्यान नहीं देते। तब वह सोचता है—अरे, यह क्या? बीस वर्ष पहले मेरा सारा परिवार मेरे इशारे

था, तब वे परिवारवाले मुझे पूछते थे। मित्र मेरी सलाह लेते थे। आज मैं दूसरों के लिए नहीं हूं, अब वे मुझे क्यों पूछेंगे? उन्हें पूछना भी नहीं चाहिए।' यह चिन्तन उसे दुःख से उबार लेगा।

तेरापंथ संघ में एक संत हुए हैं। उनका नाम था मगनलालजी स्वामी। वे मंत्री मुनि कहलाते थे। उनके जीवन को जब मैं पढ़ता हूं तब लगता है कि ऐसे बुद्धिमान, विवेकी, तत्त्वज्ञ और अध्यात्मरत व्यक्ति विरल होते हैं। वे सत्तर-अस्सी वर्ष के हो गए। किसी मुनि ने पानी पिला दिया तो ठीक है, नहीं पिलाया तो भी ठीक है। मैंने उन्हें कभी आक्रोश करते नहीं देखा। जब मुनि अपनी भूल महसूस कर उन्हें कहते—'क्षमा करना, भूल हो गयी। दूसरे कार्य में व्यस्त था, इसलिए आपको पानी पिलाना भूल ही गया।' मंत्री मुनि कहते—'भूल गए तो कौन-सी बड़ी भूल हो गयी? प्यास लगती और कोई सामने होता तो पानी मांग लेता। अन्यथा उसे सहज कष्ट समझ सह लेता। कोई खास बात नहीं है।' यह था उनका कथन। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे अपने आप में लीन रहने वाले व्यक्ति थे। वे यह मानकर चलते थे कि कोई किसी का कार्य करता है तो वह उसकी अपनी विशेषता है। यह कोई ऋण नहीं है कि उसे चुकाना ही पड़े। यह अनुभूति उसी व्यक्ति को हो सकती है जो वास्तव में यह अनुभव करता है कि 'मैं अकेला हूं।' जिसे अकेलेपन का यह सूत्र प्राप्त हो जाता है, जीवन की यह कला जिसे उपलब्ध हो जाती है, वह सचमुच सुखी जीवन जीता है। जिसे यह सूत्र प्राप्त नहीं है, वह दूसरों में हजार दोष देखता है। वह सदा यह कहता रहता है—उसने यह नहीं किया, उसने ऐसा कर दिया, वैसा कर दिया। वह शिकायतों से भर जाता है। शिकायत का भाव तब पैदा होता है जब व्यक्ति आत्म-विस्मृति कर देता है। आत्म-विस्मृति अर्थात् अपने आप को भूल जाना।

अप्रमाद का सूत्र है—आत्म-स्मृति, अपने आपको याद रखना। इस धारणा को पुष्ट कर लेना कि मैं अकेला हूं, एकोऽहं। एकत्व की भावना के संस्कार को पुष्ट कर लेना। यह भावना जब पुष्ट होती है तब व्यक्ति आत्म-स्मृति के क्षेत्र में चला जाता है, अप्रमत्त रहना सीख लेता है। यहां एक बात और समझनी है। आत्मा की स्मृति नहीं होती। वह तो हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। स्वभाव की क्या स्मृति? स्मृति तो उसकी होती है जो विस्मृत होता है। स्वभाव विस्मृत नहीं होता। उसकी स्मृति नहीं की जा सकती। यह सच है। किन्तु हम एक व्यवधान के शिकार बन गए हैं। उस व्यवधान के कारण हम यह भूल गए कि हम कौन हैं? क्या हैं? हमने अपनेपन का आरोप बाहरी वस्तुओं पर कर दिया। पर-द्रव्यों पर कर दिया। अपने आप पर ध्यान ही नहीं दिया। यह जो बाहरी संपर्क है, यह प्रमाद का बहुत बड़ा कारण है, हेतु है। बाहरी संपर्क-सूत्र को तोड़ देना, यह अप्रमाद का हेतु है, कारण है। प्रमाद पैदा होता है हमारे अज्ञान के कारण, हमारे

किसी भी सदस्य को पूरा ब्योरा नहीं बताता। किसी को कितना और किसी को कितना बताता है। पूरा नहीं बताता। उसके मन में अलग-अलग कोष्ठक है, अलग-अलग भय बने हुए हैं। यह सारा भय के कारण होता है। भय होता है तो जागना भी पड़ता है। भय नहीं होता है तो फिर जागने की जरूरत नहीं होती। यह भय उत्पन्न होता है प्रमाद के कारण अर्थात् बाहरी सपर्क के कारण। बाहरी सपर्कों को हमने अपना मान लिया और इसी कारण भय आ गया कि कहीं संपर्क टूट न जाए। इस भय के कारण नाना प्रकार के प्रमाद पैदा होते हैं।

इस सारी स्थिति में अप्रमाद का सूत्र है—अकेलेपन की अनुभूति। सारे सपर्कों को तोड़कर व्यक्ति व्यवहार में जी नहीं सकता। मैं व्यवहार को तोड़ने की बात नहीं कह रहा हू। व्यवहार को आदमी तोड़ भी नहीं सकता। व्यवहार को तोड़कर आदमी जी भी नहीं सकता। समाज चल नहीं सकता। इन बातों से व्यवहार टूटेगा नहीं। इसमें और मधुरता आएगी। यदि वास्तव में आप अपने आप में अकेलेपन का अनुभव करेंगे तो अनेक कठिनाइयों से बच जाएंगे। आप न चिन्ता के शिकार होंगे और न दुःख के। दूसरों के व्यवहारों को देखकर आप उलझेंगे नहीं, दुःखी नहीं होंगे। आपका मन शान्त रहेगा। और इस स्थिति में आप द्वारा किए गए व्यवहार दूसरों को मधुर लगेंगे। आपके मस्तिष्क में निरंतर एक सूत्र कार्यरत रहेगा—मैं अकेला हू। जब कोई भी समस्या सामने आएगी, आप इस सूत्र से समाहित हो जायेंगे। समस्या आपको पीड़ित नहीं करेगी। जो समस्या सोलह आना लगती है, वह एक आना मात्र रह जाएगी। उसे भी आप व्यवहार के धरातल पर सुलझा लेंगे। यदि अकेलेपन का आलंबन सूत्र आपके पास नहीं है तो छोटी समस्या भी बड़ी बन जाएगी। वह सुलझेगी नहीं। अप्रमाद की साधना व्यक्तिगत जीवन और व्यावहारिक जीवन—दोनों में लाभप्रद है। दोनों की समस्याओं का समाधान देने में यह सक्षम है। यह साधना समस्याओं को सुलझाती है और एक-एक चरण कर आगे बढ़ने में हमारी सहायक होती है।

सपर्क से हम जुड़ते हैं और पलायन कर जाते हैं, भाग जाते हैं। जुड़ना और भाग जाना—दोनों बातें ठीक हैं। जुड़ जाना भी अच्छा है और भाग जाना भी अच्छा है। समूह में रहना भी अच्छा है और अकेले में रहना भी अच्छा है। एक बात कोई अच्छी नहीं होती क्योंकि हम व्यवहार का जीवन जी रहे हैं। हमारा स्तर है व्यवहार का। वहां शरीर है, जीवन है, वहां हमारी आवश्यकताएं भी हैं। हमें रोटी भी खानी है, कपड़ा भी पहनना है, मकान भी बनाना है, मकान में रहना भी है—ये सब जरूरी हैं। ऐसी स्थिति में हम सपर्कों को तोड़ नहीं सकते। हमें सपर्कों का सहारा लेना होता है। किन्तु जहां हमें वास्तविकता के जगत् में जीना है, सत्य के जगत् में जीना है, यथार्थ के जगत् में जीना है, वहां हमें अकेला ही जीना होगा, अकेला ही रहना होगा। अन्यथा हम सारी कठिनाइयों का भार

२३

ज्ञान और संवेदन

संवेदन और अहं—दोनों साथ-साथ चलते हैं। राजा ने सुना कि नगर में एक सन्यासी आया है। वह शक्तिशाली है। बड़ा विचित्र है। हजारों लोग आ-जा रहे हैं। उसका घर-घर यशोगान हो रहा है। राजा ने अपने आदमी सन्यासी के पास भेजे और दर्शन देने की प्रार्थना की। सन्यासी ने कहा—'मैं महलों में नहीं आ सकता। यदि राजा चाहें तो यहीं आकर दर्शन कर लें।' भूख राजा को थी, संन्यासी को नहीं। भूखे को भोजन के पास जाना पड़ता है। प्यास राजा को थी, सन्यासी को नहीं। प्यासे को पानी के पास जाना पड़ता है। राजा स्वयं सन्यासी के पास गया और सन्यासी को महल में ले आया। जो महल में रहना नहीं चाहता था, वह भी महलों में आ गया। सन्यासी महलों में एक दिन रहा, दो दिन रहा। महीना बीत गया। सन्यासी जाने का नाम ही नहीं ले रहा था। राजा ने सोचा—यह क्या ? क्या मैंने कोई आफत मोल ले ली ? मैंने तो समझा था, सन्यासी है, जंगल में रहने वाला है, एक-दो दिन रहकर चला जाएगा। पर यह तो यहां से जाने की बात नहीं करता। एक दिन राजा ने सन्यासी से कहा—महाराज ! आप जंगल में घूमने चलें। सन्यासी और राजा दोनों घूमने गए। नगर से बहुत दूर निकल गए। राजा ने कहा—'अब बहुत दूर आ गए। लौट चलें महलों की ओर।' सन्यासी ने कहा—'अब लौटकर महलों में क्या जाएं ? मैं तो जंगल की ओर बढ़ता हूं।' राजा ने कहा—'महाराज ! आप भी महल में रहते थे और मैं भी महल में रहता था। फिर आप में और मेरे में अन्तर ही क्या रहा ?' सन्यासी ने कहा—'राजन् ! मैं महल में था, परन्तु मेरे मन में महल नहीं था। तुम महल में हो और तुम्हारे मन में भी महल है—यही अन्तर है। मैं जंगल में था तब भी महल में बैठा था और महल में था तब भी जंगल में बैठा था। मैं जंगल में था तब भी अपने आप में रहता था और महल में था तब भी अपने आप में रहता था। मेरे मन में, दिमाग में महल नहीं रहता था। महल में रहना, या जंगल में रहना, मेरे लिए अन्तर की चीज नहीं है। दोनों समान हैं मेरे लिए। तुम्हारे लिए ऐसा नहीं है। तुम्हारे लि'

हो जाएगा। बात तो सही है। किन्तु कोरे मंत्र को पकड़ लिया और बरसों तक
जप करते चले गए, कुछ भी नहीं हुआ, कुछ अनुभव नहीं हुआ काम [illegible] नहीं
हुआ। ऐसी स्थिति में लोग कहने लग जाते हैं—इतने बरसों तक मंत्र का जप
किया, माला फेरी पर कुछ भी चमत्कार नहीं हुआ। कुछ भी नहीं हुआ। [illegible]
वह नौका तैरा नहीं रही है, लगता है डुबाने के प्रयत्न में है या डुबा रही है। [illegible]
कहते हैं—इतने दिन तक तो हमने विश्वास के साथ माला फेरी मंत्र का जप
किया, अमुक-अमुक अनुष्ठान किए, पर लगा नहीं कि कुछ हो रहा है तब हमने
माला छोड़ दी, जप छोड़ दिया। मन में विश्वास ही नहीं रहा उन पर। इसका
अर्थ है कि वे व्यक्ति स्वयं मझधार में आकर डूब जाते हैं। ऐसा क्यों होता है?
ऐसा इसलिए होता है कि हम पूरी बात को नहीं जानते, पूरी बात को नहीं
पकड़ते। हमें पूरी बात को जानना चाहिए, पूरी बात को पकड़ना चाहिए। मंत्र
में शक्ति है, यह बात ठीक है। मंत्र तैराने वाला है किन्तु सब कुछ केवल मंत्र से
ही तो नहीं होगा। इसके साथ कुछ और भी चाहिए। सबसे पहले आप इस बात
पर ध्यान दें कि मंत्र के साथ आपके मन का योग हुआ है या नहीं? आप मंत्र का
जप तो कर रहे हैं, किन्तु मन उसमें संयुक्त नहीं है तो कुछ नहीं होगा। अर्थात्
नदी को पार करने से पूर्व, नौका में बैठने से पूर्व, आपको देखना होगा कि नाविक
है या नहीं? नाविक भी नहीं है और आप स्वयं नौका को खेना नहीं जानते तो
निश्चित ही वह नौका आपको पार नहीं पहुंचा पाएगी, बीच में ही डुबो देगी।
मंत्र में शक्ति है, पर आपका मन यदि उसमें संयुक्त नहीं है, आपके मन का [illegible]
उसमें नहीं है, उसे चला नहीं रहा है, खे नहीं रहा है तो वह मंत्र भी [illegible]
कर देगा। हमें पूरी बात पकड़नी चाहिए। पहली बात है मन के [illegible]
के योग के बिना जो भी काम किया जाता है, वह पूरा नहीं होता, [illegible]
जाता है। आदमी खाता है और यदि मन खाने में संयुक्त नहीं है [illegible]
भी अधूरा है। आदमी चलता है और यदि मन साथ नहीं है [illegible]
भी अधूरा है। वह अधूरे मन से चलता है, पूरे मन से नहीं। [illegible]
का अनुभव करें। क्या आप कभी पूरे मन से खाते हैं? [illegible]
ऐसा करते हैं कि खाते समय खाते ही हैं, और कुछ नहीं [illegible]
बोलते हैं और न इधर-उधर करते हैं? क्या आपका मन [illegible]
रहता है? नहीं, कभी नहीं। खाते-खाते [illegible]
कहां चले जाते हैं। कितनी यात्राएं कर लेते हैं, [illegible]
कितनी योजनाएं बना लेते हैं। आप पूरे मन से [illegible]
इसका तात्पर्य है कि मन का एक कोना [illegible]
कोने [illegible] काम करते चले जाते हैं [illegible]
चलते

परमाणु नष्ट नहीं होते। जो आकार है, जो संस्थान है, जो रूप है, वह स्थायी नहीं हो सकता। सब परिणमनशील हैं। सब कुछ बदलेगा। आदमी भी बदलता रहता है। आत्मा शाश्वत है। वह नहीं बदलता। आदमी बदलता है। इसलिए आदमी जो होना चाहता है वैसा हो सकता है, उस रूप में बदल सकता है। उसका जो संकल्प होगा, उसी रूप में बदल जाएगा। आदमी जीवन के पहले क्षण से बदलता रहता है। प्रतिक्षण बदलता है। बदलने का क्रम बंद नहीं होता। इसलिए संकल्प के अनुरूप वह बदल जाता है। अगर संकल्प नहीं है तो दूसरे रूप में बदलेगा। अगर संकल्प है तो संकल्प के अनुरूप बदलेगा।

हमारे शरीर में कोशिकाएं हैं जो शरीर की मूल घटक हैं। वे शरीर का निर्माण करती हैं। बहुत बड़ी संख्या है उनकी। हमारे शरीर में साठ हजार अरब कोशिकाएं हैं। हमारे मस्तिष्क में प्रति घन मीटर करोड़ कोशिकाएं हैं। शरीर की कोशिकाएं प्रतिक्षण नष्ट होती हैं, नयी बनती हैं। हजारों कोशिकाएं मरती हैं और हजारों नयी जन्मती हैं। पुरानी क्षीण होती हैं और नयी बनती हैं। यह चक्र निरंतर चल रहा है। जब आदमी की अवस्था के अनुसार कोशिकाएं क्षीण अधिक होती हैं और बनती कम हैं तब शरीर में क्षीणता आती है, मस्तिष्क कमजोर होता है, इन्द्रियां क्षीण हो जाती हैं, मस्तिष्क का नियंत्रण ढीला हो जाता है। जवान आदमी अपने शरीर पर, अपने मस्तिष्क पर, अपने मन पर चाहे जैसा नियंत्रण कर सकता है, किन्तु बूढ़े आदमी की नियंत्रण-शक्ति क्षीण हो जाती है, ढीली हो जाती है। इसका कारण है कि साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में दस प्रतिशत मस्तिष्क क्षीण हो जाता है। इतनी कोशिकाएं मर जाती हैं कि मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है। यह शरीर के भीतर चलने वाला अवश्यंभावी क्रम है। हम एक चिता को देखकर डर जाते हैं और कह देते हैं—"अरे! चिता जल रही है। मुर्दा जल रहा है। हम अपने भीतर देखें। एक नहीं, हजारों चिताएं जल रही हैं निरंतर। हजारों कोशिकाएं मर रही हैं। हजारों कोशिकाओं का जन्म हो रहा है। जन्म और मरण—दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। एक ओर श्मशान है तो दूसरी ओर प्रसूतिगृह। एक में मुर्दे जलाए जा रहे हैं, चिताएं सजाई जा रही हैं और एक में नये-नये चेहरे जन्म ले रहे हैं, सूर्य की किरण का पहला स्पर्श कर रहे हैं। विचित्र है यह शरीर। हम इसे केवल बाहर से देखते हैं। बाहर हम श्मशान भी देखते हैं और प्रसूतिगृह भी देखते हैं। जन्मते बच्चों को भी देखते हैं और मरते बूढ़ों को भी देखते हैं। सब कुछ देखते हैं बाहर से, परन्तु भीतर में कुछ भी नहीं देखते। भीतर एक चक्र चल रहा है। निरंतर बदल रहा है भीतर। तो क्या आप बदले नहीं? बदल तो रहे हैं। प्रतिक्षण संघर्ष चल रहा है भीतर। बनने और मिटने का काम हो रहा है निरंतर। यह सारा स्वाभाविक हो रहा है। यदि संकल्प करें तो उस बदलाव में परिवर्तन ला सकते हैं। जो आप होना

क्षीण हो जाती है, संकल्प टूट जाता है, मन निराशा से भर जाता है, पग-पग पर विघ्न होता है, किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पाता। इसीलिए ब्रह्मचर्य, वाणी का संयम, मन का संयम, एकाग्रता की साधना, ये सारे प्राणशक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपाय हैं। इनसे मनोबल बढ़ता है और धैर्य मजबूत होता है। ये अध्यात्म नहीं है किन्तु अध्यात्म तक पहुंचने के साधन हैं। नौका के समान हैं। ये सारी नौकाएं हैं। ये लक्ष्य नहीं, साधन मात्र हैं। हमें पहुंचना कहीं और है। इनको माध्यम बनाकर हम वहां पहुंच जाते हैं जहां हमें पहुंचना है। संकल्प किया और अध्यात्म की साधना हो गई—यह बात नहीं है। संकल्प उस व्यक्ति को ही करना पड़ता है जो निशाना मारता है, निशाना मारना जानता है। एक शिकारी जो निशाना मारता है, उसे संकल्प भी करना होता है और एकाग्रता भी करनी होती है। क्या शिकारी की एकाग्रता कम होती है? क्या प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले निशानेबाजों की एकाग्रता कम होती है? कम नहीं होती। पूरी एकाग्रता होती है तभी लक्ष्य पर तीर लगता है। युद्ध लड़ने वालों में भी संकल्प होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में चर्चिल ने 'वी' का चिह्न दिया था। उसने प्रत्येक योद्धा से कहा—'वी' को सदा अपने समक्ष रखो। हम जीत जाएंगे। यह 'वी' जीतने का दृढ़ संकल्प था। सैनिक में जितना दृढ़ संकल्प होता है, साहस होता है, एकाग्रता होती है, वह दूसरे में नहीं होती। तो प्रश्न होता है कि क्या यह संकल्प, साहस, एकाग्रता आत्मोपलब्धि है? अध्यात्म है? नहीं। ये तो साधन मात्र हैं। संकल्प एक साधन है। इच्छा-शक्ति एक साधन है। प्राणशक्ति एक साधन है। मनोबल एक साधन है। एकाग्रता एक साधन है। अब इन साधनों को हम किस दिशा में ले जाते हैं, किस दिशा में प्रवाहित करते हैं, यह उद्देश्य पर निर्भर होता है। और आत्मा को पाने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है और आत्मा से दूर भागने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है। आत्मा की दिशा में भी इनका प्रयोग हो सकता है, और आत्म-विरोधी दिशा में भी इनका प्रयोग हो सकता है। ये मात्र साधन हैं, उपकरण हैं। आप इन्हें किस दिशा में प्रयुक्त करते हैं, यह आपके उद्देश्य पर निर्भर है।

जप भी एक साधन है। साधन मात्र है, साध्य नहीं है। यह प्राणशक्ति का एक प्रयोग मात्र है, इसमें शब्द और मन—इन दोनों का योग होता है। शब्द और मन—दोनों का समुचित योग होते ही एक शक्ति पैदा होती है। हम बोलते हैं। हमारे बोलने के साथ-साथ विद्युत् की तरंगें पैदा होती हैं। हम सोचते हैं। हमारे सोचने के साथ-साथ विद्युत् की तरंगें पैदा होती हैं। उन विद्युत्-तरंगों का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है।

रंग, शब्द, मन और उच्चारण—ये चार मुख्य बातें हैं। रंग का हमारे चिन्तन के साथ और हमारे जीवन के साथ बहुत गहरा संबंध है। रंग हमारे शरीर

भावनाओं से आक्रान्त होते हैं। यह सब क्यों और कैसे होता है ? इसका कारण है व्यक्ति-व्यक्ति का आभामंडल, आभावलय। सामने वाले व्यक्ति का जैसा आभामंडल होगा, आभावलय होगा, उसके रंग होंगे, वे पास वाले व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति चाहे या न चाहे, वह उन रंगों से प्रभावित अवश्य ही होता है। जिस व्यक्ति का आभामंडल श्वेत वर्ण का है, नीले वर्ण का है, पीले वर्ण का है, उसके पास आकर बैठते ही मन शांत हो जाता है, शांति से भर जाता है, उद्विग्नता मिट जाती है, प्रसन्नता से चेहरा खिल उठता है। जिसका आभामंडल विकृत है, कृष्ण वर्ण के पुद्गलों से निर्मित है तो उस व्यक्ति के पास जाते ही अकारण ही चिंता उभर जाती है, उदासी छा जाती है, मन उद्विग्नता से भर जाता है और ईर्ष्या-द्वेष, बुरे विचार मन में आने लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि रंग हमें प्रभावित करते हैं।

एक है रंग। दूसरा है शब्द। हमारे जीवन पर शब्द का असर होता है। मन पर शब्द का असर होता है। शब्द के स्थूल प्रभाव से हम सब परिचित हैं। एक बार स्वामी विवेकानंद से एक व्यक्ति ने कहा—'शब्द निरर्थक है। उनका प्रभाव या अप्रभाव कुछ भी नहीं होता। वे निर्जीव हैं।' विवेकानंद ने सुना। कुछ देर मौन रहने के बाद बोले—'बेवकूफ हो तुम। बैठ जाओ।' इतना कहते ही वह व्यक्ति आगबबूला हो गया। उसकी आकृति बदल गई। आंखें लाल हो गईं। उसने कहा, 'आप इतने बड़े संत हैं। मुझे गाली दे दी। शब्दों का ध्यान ही नहीं रहा आपको।' विवेकानंद ने मुसकराते हुए कहा—'अभी तो तुम कह रहे थे कि शब्दों में क्या प्रभाव है ? और स्वयं एक 'बेवकूफ' शब्द से इतने प्रभावित हो गए और क्रोध में आ गए।'

शब्दों में शक्ति होती है। वे प्रभावित करते हैं। यह स्थूल प्रभाव की बात मैंने कही। शब्द का बहुत सूक्ष्म प्रभाव होता है, असर होता है। आज शब्द के द्वारा चिकित्सा होती है। शब्दों के द्वारा ऑपरेशन हो रहे हैं। ऑपरेशन में किसी शस्त्र की जरूरत नहीं होती, किसी उपकरण की जरूरत नहीं होती। शब्द की सूक्ष्म तरंगें आ रही हैं और चीर-फाड़ हो रही है। कपड़ों की धुलाई होती है शब्दों के द्वारा, सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा। सूक्ष्मतम ध्वनि से हीरे की कटाई होती है। पुराने जमाने में कहा जाता था कि हीरे से हीरा कटता है। यह मान्य सिद्धांत था। आज हीरा शब्द की सूक्ष्म ध्वनि से कटने लगा है। यंत्र घूमता है। ध्वनि की सूक्ष्म तरंगें निकलती हैं और सूक्ष्म समय में ही हीरा कट जाता है। ये हैं शब्द के चमत्कार। इनसे आगे हैं जप और मंत्र के चमत्कार।

शब्द का उच्चारण छह प्रकार से होता है। उसके छह प्रकार हैं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। मंत्रविद् आचार्यों ने बताया कि शब्द का ह्रस्व उच्चारण पाप का नाश करता है। दीर्घ उच्चारण लक्ष्मी की

एकाग्र हो जाते हैं, इतने लीन हो जाते हैं कि हमारा ध्येय और हम दो नहीं रहते।

आप 'णमो अरहंताणं' का जप करते हैं लेकिन जब तक अर्हत् की कल्पना आपके मस्तिष्क में ठीक प्रकार से नहीं बैठ जाती और आप मन में यह भावना नहीं करते कि 'मैं स्वयं अर्हत् होता जा रहा हूं,' तब तक 'णमो अरहंताणं' का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। हां, इतना-सा लाभ अवश्य होता है कि उच्चारण के द्वारा जो तरंगें उत्पन्न होती हैं उससे प्राणशक्ति में कुछ विकास होता है। किन्तु जाप के द्वारा आपको अर्हत् के रूप में जो परिणति होनी चाहिए थी, परिणमन होना चाहिए था, वह नहीं होता। इस बड़े लाभ से वंचित रहना पड़ता है। थोड़ा-सा लाभ प्राप्त होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि हम बड़े ध्येय को लेकर चलते हैं, बड़ी बात को सामने रखकर चलते हैं किन्तु बीच में छोटा-सा लाभ होता है तो हम समझ लेते हैं कि लाभ मिल गया। यह बहुत बड़ा खतरा है। विकास के लिए बहुत बड़ा खतरा है। जिस बड़ी बात को लेकर हम चले, आत्मा की उपलब्धि सबसे बड़ी बात है, उसके लिए हम चले, बीच में कुछ प्राप्त हुआ, उसे ही सब कुछ मानकर आगे का प्रयत्न छोड़ देते हैं। इसी से संतुष्ट हो जाते हैं। यह संतोष भी बहुत बड़ा खतरा है। हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए। ये तो रास्ते में मिलने वाले यात्री हैं, सहचारी हैं। आदमी यात्रा में चला। थक गया। रास्ते में विश्राम के लिए ठहरा। एक साथी मिल गया। उसके साथ रात भर रहा। बात-चीत की। मनोरंजन किया। यदि उसे ही मंजिल मानकर वह वहीं रुक जाए तो वह कभी मंजिल तक नहीं पहुंच पाता। यह बहुत बड़ा खतरा है। ये प्राणविद्या की जितनी बातें हैं, वे मध्य में मिलने वाले सहयात्री हैं। मिल जाते हैं, मन बहला लेते हैं। पर वह मंजिल की प्राप्ति नहीं है।

हमारा ध्येय होता कि हमें अर्हत् बनना है। अर्हत् वीतराग होते हैं। अर्हत् वे होते हैं जिनमें सारी अर्हताएं, क्षमताएं, शक्तियां, योग्यताएं विकसित हो जाती हैं। कुछ भी अविकसित नहीं रहता। उस आत्मा की उपलब्धि का नाम है—अर्हत्। हमें भी अर्हत् होना है। इसीलिए हम 'णमो अरहंताणं' का जाप करते हैं। जप को प्रारंभ करने से पूर्व हमारे मन में यह भावना होनी चाहिए, यह संकल्प होना चाहिए कि 'मैं अर्हत् हूं', 'मैं अर्हत् हूं।'

फिर जाप करते समय यह धारणा हो कि मैं अर्हत् बन रहा हूं, मैं अर्हत् बन रहा हूं। यह धारणा कर ली, यह भावना कर ली। इसके बाद हम 'णमो अरहंताणं' का जाप करना चाहिए। मैं नमस्कार अर्हत् को नहीं कर रहा हूं, मैं स्वयं अर्हत् बनने के लिए आगे बढ़ रहा हूं। तो अर्हत् की पूरी प्रतिमा, पूरा चित्र हमारे मस्तिष्क में इस प्रकार स्थिर हो जाए, चित्रित हो जाए और फिर उसके आस-पास हमारा शब्द चलता रहे तो वे शब्द की तरंगें वास्तव में हम अर्हत् के रूप में हमारे

एकाग्रता

साधना करने वाले ध्येय की कल्पना कर मन को उसमें लगा दें, मन को उसके साथ जोड़ दें। मन उसी ध्येय में लगा रहे, ढीला न हो। कभी-कभी मन उस ध्येय से छूटने लगे, बिछुड़ने लगे, कोई विकल्प आ जाए तो जागरूक साधक मन को खींच लेगा, मन का समाहार कर लेगा और उसे ध्येय पर लगा देगा। मन ध्येय पर लग जाएगा। यह धारावाही ज्ञान एक ही दिशा में, एक ही ध्येय पर चलता रहे, निरंतर और सतत चलता रहे, क्रम न टूटे और बीच में टूटे तो उसे तत्काल जोड़ दिया जाए, यह है मन की समाधि, मन की एकाग्रता। जब यह एकाग्रता सिद्ध होती है, उस स्थिति में हमें सूक्ष्म द्रव्यों का आभास होता है। बहुत सारी सूक्ष्म वस्तुएं दीखने लगती हैं। ज्योति का दर्शन होता है। ऐसी आत्माओं का दर्शन होता है जो सूक्ष्म लोक में विचरण करती हैं। अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। ऐसे शब्द जो स्थूल जगत् के परे के हैं। स्थूल जगत् के परे के रूप दिखाई पड़ते हैं और स्थूल जगत् के परे की अनुभूतियां होने लगती हैं। हमारा अनुभूति का लोक बदल जाता है। उस स्थिति में हमें आनन्द का अनुभव होता है। यह भी कोई उत्कृष्ट सफलता तो नहीं है। यह चरम समाधि नहीं है। फिर भी यह आत्मविकास की दिशा में हमारा एक ऐसा चरण है जहां पहुंचने पर फिर लौटने का मन नहीं करता। फिर नीचे उतरने का मन नहीं होता। यह निश्चित है।

यह स्थिति जब प्राप्त हो जाती है तब उपक्रम होता है। हमारे जीवन में परिवर्तन होता है। भक्त रैदास बहुत बड़े संत थे। वे जाति से चमार थे। बड़े साधक थे। बहुत बड़े आत्मज्ञानी थे। वे काशी में रहते थे। अपनी साधना करते। छाई हुई छोटी-सी झोंपड़ी में रहते। पत्नी थी। छोटा-सा परिवार था। वहीं जूते गांठते। इससे जो प्राप्त होता, जीवन चल जाता। वे काम से निवृत्त होकर अपनी साधना में लीन हो जाते। एक दिन एक साधु रैदास से मिलने के लिए आया। इनके तत्त्वज्ञान और प्रसिद्धि से वह परिचित था। आकर उसने देखा—'अरे, इतनी गरीबी में जी रहे हैं। इतने बड़े संत और इतनी गरीबी! ऐसा टूटा-फूटा

जाने वह क्या से क्या हो जाए। उस व्यक्ति के पैर फिर पृथ्वी पर नहीं पडते। वह
लगता है कि मानो आकाश में उड रहा हो। कई ऐसे होते हैं।

एक आदमी ऐसा भी होता है कि उसे पारस मिला है, सामने पडा है पारस,
फिर भी उसके मन में यह विचार ही नहीं उठता कि मैं लोहे का सोना बना लूं।
स्वप्न में भी यह विचार नहीं आता कि पारस के योग से मैं मालामाल हो जाऊं।
रहने के लिए सुन्दर कोठी बना लूं, बढ़िया कपडे पहनूं आदि-आदि। रैदास ने
कभी नहीं सोचा—पारस पडा है। अब मुझे जूते गांठने की क्या आवश्यकता है।
जब चाहूं और जितना चाहूं, सब कुछ हो सकता है। पर वह जूते गांठने में ही
परम सतोष का अनुभव कर रहा है। रूखी रोटी में ही परम आनन्द और
आत्मतृप्ति का अनुभव कर रहा है। टूटी-फूटी झोपडी में ही सतुष्ट है। आखिर
इसका कारण क्या है? हेतु क्या है? यह सतोष आया कहां से? यह परिवर्तन
क्यों आता है? जब हम इसके कारण की खोज करते हैं तब ज्ञात होता है कि यह
परिवर्तन होता है मानसिक समाधि के स्तर पर। उस व्यक्ति ने, भक्त रैदास ने,
अपने मन को उस स्तर पर पहुंचा दिया, आनन्द की उस भूमिका तक पहुंचा दिया
कि जहां पहुंचने पर सोना बनाने का आनन्द, बढ़िया मकान और बढ़िया भोजन
का आनन्द समाप्त हो जाता है। सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। उसे लगता
नहीं कि ये कोई बडी चीजें हैं, विशिष्ट उपलब्धियां हैं, मूल्यवान वस्तुएं हैं। सारे
मूल्य समाप्त हो जाते हैं। यह निश्चित है कि मूल्य समाप्त हुए बिना कोई भी
व्यक्ति ऐसा कर नहीं सकता। जब तक उसके मन में पारस का मूल्य बना रहेगा,
पारस से सोना बनाने का मूल्य बना रहेगा और सोने के द्वारा बढ़िया वस्तुएं और
बड़प्पन पाने का मूल्य बना रहेगा तो वह ऐसा आचरण कर ही नहीं सकेगा कि
सामने पारस पड़ा हो और वह जूते गांठता रहे, रूखी-सूखी खाकर भूख मिटा ले।
ऐसा हो ही नहीं सकता उस स्थिति में। यह तभी हो सकता है जबकि उस
उससे बड़ा आनन्द मिल जाए। एक घटना है।

एक व्यक्ति गया सन्यासी के पास और बोला—'बाबा! मैं भूखा हूं।
खाने को दो।' सन्यासी ने कहा—'मेरे पास क्या है जो तुझे दूं। मैंने तो सब
छोड़ दिया है। तुझे क्या दूं?' वह बोला—'नहीं, यह नहीं हो सकता। बडी
लिये आया हूं आपके पास। निराश नहीं लौटूंगा। कुछ तो देना ही होगा।'
आग्रह करने लगा। सन्यासी ने सोचा—बडी मुसीबत है। पास में एक दा
नहीं है। इस बेचारे को क्या दूं? यह भी अपना हठ नहीं छोड़ रहा है।
करूं? अन्त में सन्यासी बोला—भाई! मेरे पास तो कुछ है नहीं। इधर न
और चले जाओ। मैंने एक पत्थर कल ही वहां फेंका है। वह पारस है।
सोना बनाता है। उस पत्थर को लोहे से छुआओ, लोहा सोना बन
जाओ, वह ले जाओ।'

बाधाएं हैं। आप व्युत्सर्जन का अभ्यास करें।

प्राण-साधना की दृष्टि से दो बातें हैं—एक दीर्घ श्वास और एक है समताल श्वास। आप इन दोनों का अभ्यास करें—दीर्घ श्वास और समताल श्वास। श्वास लंबा लें। श्वास जितना लंबा होगा, उतना ही मन में विकार कम आएगा। क्रोध कम आएगा, आवेग कम आएगा। श्वास जितना छोटा है, उतना ही विकार ज्यादा आते हैं। जब श्वास लंबा होता है, पूरा होता है, वह हमारे भीतर जो उत्तेजना देने वाले पदार्थ हैं उन्हें बाहर निकाल फेंकता है। उसके पीछे एक वैज्ञानिक कारण है। फेफड़े में रक्त की छनाई होती है। हार्ट पंपिंग का काम करता है। वहां से रक्त पंपिंग होता है, सारे शरीर में पहुंचता है। वह संस्कारों को लेकर बहता है। जितना शुद्ध रक्त जाएगा, मन उतना ही शांत रहेगा। आवेग कम होंगे। रक्त जितना दूषित होगा, स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाएगा, क्रोध अधिक आने लगेगा। जब हम दीर्घ श्वास लेते हैं, पूरा श्वास लेते हैं, तो जितना कार्बन है, जितनी खराबी जमती है, वह सारी की सारी उस श्वास के साथ बाहर निकल जाती है। श्वास छोटी लेते हैं तो न पूरा ऑक्सीजन अन्दर जाता है और भीतर जो मैल जमा है वह भी पूरा नहीं निकलता। इसलिए आदमी का स्वभाव नहीं बदलता। दीर्घ श्वास का अभ्यास बहुत जरूरी है।

दूसरी बात है, हम समताल श्वास लें। संगीत में जब तक ताल सम नहीं होता तब तक संगीत का आनन्द नहीं आता। ताल सम होना चाहिए। श्वास में भी ताल का मूल्य है। श्वास समताल होना चाहिए। जितने समय में पहला श्वास लिया, जितने समय रोका या छोड़ा, दूसरा श्वास भी उतने ही समय में आए, तीसरा श्वास भी उतने ही समय में आए। समय का अन्तर न हो। जब हम चलते हैं तब एक पैर तो यहां रखा, दूसरा पैर एकदम आगे रख दिया, तीसरा फिर और कहीं रख दिया तो गति नहीं बनेगी। गति तब बनती है जब पैर बराबर उठते जाते हैं। समताल श्वास आवश्यक होता है। मान लीजिए कि पहला श्वास लेने-छोड़ने में बीस सेकंड लगते हैं, तो दूसरे-तीसरे श्वास में भी बीस सेकंड ही लगने चाहिए। यह है समताल श्वास। इससे एक ऐसी लयबद्धता उत्पन्न होती है कि आदमी सहज ही ध्यान की स्थिति में चला जाता है। शान्त हो जाता है। ध्यान का मतलब यह नहीं कि हम बैठकर जो करते हैं, वही ध्यान है। जब हमारा मन शांत रहे, मन शांत और उद्विग्न न हो, वह सारी ध्यान की ही स्थिति है। यह समताल श्वास की निष्पत्ति है। प्राण की दृष्टि से दो बातें है—दीर्घ श्वास और समताल श्वास।

अब तीसरी बात है व्यवहार की। व्यवहार की दृष्टि से साधक को करुणा का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास अपने घर तक चले। प्रतिदिन हम इसका जागरूकता से अभ्यास करें। अपने बच्चों के प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने

संकल्प के सहारे चलेगी। करुणा का व्यवहार में प्रयोग होगा, किन्तु अभी यह भूमि प्रयोग करने की नहीं है। अभी आप किस पर करुणा करते हैं ? किस पर करुणा करते हैं ? यह आप स्वयं पर निर्भर है। आपको स्वयं को सोच-समझ-कर प्रयोग करना है। दीर्घश्वास, समताल श्वास और नमस्कार मंत्र का जाप— इनका प्रयोग कराया जा सकता है, सीखा जा सकता है।

से दूसरे चिंतन पर मन विचरण करता है। हम मन को एकाग्र करते हैं, फिर भी शब्द का चक्र चलता है, उसका विचरण होता है। मन की चंचलता समाप्त नहीं होती। चंचलता एकाग्रता में भी रहती है। किन्तु वह चंचलता इतनी सीमित हो जाती है कि हम मन को स्थिर मान लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वही (मन) एक विषय में चंचल होता है, शेष विषयों में वह संक्रमण नहीं करता, इसलिए उसे स्थिर मान लेते हैं। यह वास्तविक स्थिरता नहीं है। यह पूर्ण स्थिरता नहीं है, आंशिक स्थिरता है या चंचलता का वर्जन है। उस वर्जना को लेकर हम उसे स्थिर और शांत मान लेते हैं किन्तु जहां विचार है, घूमना है, पर्यटन है, वहां स्थिरता कैसे हो सकती है? मन की स्थिरता होने पर तो निर्विचारता की स्थिति आ जाती है। तब कोई विचार नहीं होगा, कोई चिन्तन नहीं होगा। केवल स्वभाव में ठहरना होगा।

निर्विचार ध्यान का अर्थ ही है—स्वभाव में ठहर जाना, अपने में स्थित हो *जाना, अपनी प्रकृति में ठहर जाना, अपनी मूल चेतना में ठहर जाना।* कोरा ज्ञान होना, और कुछ भी नहीं होना। कोरा ज्ञान होना ही निर्विचार है। वहां विचार नहीं रहा, केवल दर्शन है, केवल बोध है। हम भी केवलज्ञानी हो सकते हैं। आप न मानें कि आज कोई केवलज्ञानी नहीं हो सकता। पहले होता था तो आज भी हो सकता है। आप भी हो सकते हैं, मैं भी हो सकता हूं, हर कोई हो सकता है। *जहां भी मन का विचरण बंद हुआ, पर्यटन बंद हुआ और मन आत्मा में लीन* हुआ, कोरी चेतना का व्यापार शुरू हुआ तो हम केवलज्ञानी हो गए। केवलज्ञान का मतलब है शुद्ध ज्ञान, कोरा ज्ञान, अकेला ज्ञान, ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

'केवल' शब्द के तीन अर्थ हैं—अकेला, शुद्ध, परिपूर्ण। 'केवल' का एक अर्थ है—*अकेला। जब हम ज्ञान करते हैं, कुछ संवेदन नहीं करते, तब हमारा ज्ञान* अकेला ज्ञान हो गया, केवलज्ञान हो गया।

केवल का दूसरा अर्थ है—शुद्ध। जब हम कोरा ज्ञान करते हैं, संवेदन नहीं करते, ज्ञान के साथ संवेदन को नहीं जोड़ते, तब हमारा ज्ञान शुद्ध होता है, शुद्ध उपयोग होता है, उस अर्थ में भी हम केवलज्ञानी हो जाते हैं।

'केवल' का तीसरा अर्थ है—परिपूर्ण। परिपूर्णता अपने आप आएगी। जब कोरा ज्ञान होगा, केवलज्ञान होगा तब परिपूर्णता अपने आप आएगी। हम लाने नहीं जाएंगे, निमंत्रण नहीं देंगे। उस परिपूर्णता को स्वयं आना होगा। जब हमारा ज्ञान अकेला है, हमारा ज्ञान शुद्ध है तब परिपूर्णता स्वयं आएगी। उसे आना ही होगा। वह हमारे से पृथक् रह नहीं सकती।

जब हम शुद्ध उपयोग की स्थिति में चले जाते हैं तब हमें निर्विचारता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उपयोग का अर्थ है—चेतना की प्रवृत्ति, चैतन्य का

सुख-दुःख सम हो जाना। आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि शुद्ध चेतना के आने पर साधक सुख और दुःख मे समान हो जाता है। उसके लिए सुख और दुःख में कोई अन्तर नहीं होता। वह यह अन्तर नही करता कि यह सुख है और यह दुःख है। दोनो समान हैं उसके लिए। यह कैसे घटित होता है? वह क्या मनुष्य जिसको सुख की अनुभूति प्रिय न हो और दुःख की अनुभूति अप्रिय न हो? दोनों मे सम रहने की स्थिति क्यो घटित होती है? कब घटित होती है? कैसे घटित होती है? अशुद्ध चेतना मे यह कभी घटित नहीं हो सकता। जब हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, कोरे ज्ञान की स्थिति मे होती है, उस समय न कोई सुख रहता है और न कोई दुःख रहता है। सुख और दुःख—ये दोनो सज्ञाए समाप्त हो जाती है। उस समय न कोई शत्रु रहता है और न कोई मित्र। शत्रु और मित्र—ये दोनों सज्ञाए समाप्त हो जाती हैं। उस समय न जीने की आशंसा रहती है और न मौत का भय। आशंसा और भय—दोनो समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति को भगवान् कृष्ण ने गीता मे इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है—

'सिद्धयसिद्धयो समोभूत्वा, समत्व योग उच्यते।'

सिद्धि का अर्थ है—उपलब्धि, सफलता। असिद्धि का अर्थ है—अनुपलब्धि, असफलता। जो साधक सिद्धि और असिद्धि मे, उपलब्धि और अनुपलब्धि मे सम रहता है, इस समत्व का नाम है योग। समत्व निर्विचारता की स्थिति है।

निर्विचार ध्यान को सामायिक कहा जा सकता है। भगवान् महावीर ने जितना बल सामायिक पर दिया उतना बल किसी पर नही दिया, क्योंकि ध्यान सामायिक से अलग नही है। सामायिक का नाम ध्यान है। ध्यान और सामायिक दो नही है। गौतम ने महावीर से पूछा—'भंते! सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ (विषय) क्या है?' भगवान् ने छोटा-सा उत्तर दिया, दो ही शब्दों मे उत्तर दिया, पर वह उत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। भगवान् ने कहा—'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे'—आत्मा सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। जब हम मूल चेतना मे होते हैं, आत्मा मे ठहरे हुए होते हैं, उस स्थिति का नाम है सामायिक। अपनी आत्मा में होना ही सामायिक है। सामायिक के वेश मे होना वास्तविक सामायिक नही है। अपनी आत्मा मे होना ही वास्तविक सामायिक है। अपनी आत्मा मे होना ही सामायिक का अर्थ है, विषय है। आत्मा और सामायिक दो नही है, एक ही है। शब्द दो है। पर अर्थ और भावना एक ही है।

आत्मा और ध्यान भी दो नही है। निर्विचार ध्यान का मतलब है—आत्मा मे होना। सामायिक का मतलब भी है—आत्मा मे होना। तीन शब्द है—ध्यान, निर्विचारता और सामायिक। तीनों एक है। सामायिक मे होने का अर्थ है—निर्विचार ध्यान मे होना और निर्विचार ध्यान मे होने का अर्थ है—सामायिक मे

भ्रान्ति या विपर्यास छूट नहीं जाता। इससे पूरे सत्य का दर्शन नहीं होता। इसमें आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता।

आत्मा निर्विचार है। उस तक विचार से नहीं पहुंचा जा सकता। आत्मा अशब्द है। शब्द के माध्यम से उस तक नहीं पहुंचा जा सकता। आत्मा निर्विकल्प है। विकल्प के द्वारा उस तक नहीं पहुंचा जा सकता। आत्मा अचिन्त्य है। चिन्तन के द्वारा उस तक नहीं पहुंचा जा सकता। वहां पहुंचा जा सकता है निर्विचार, नि:शब्द, निर्विकल्प, निश्चिन्त और निर्मनस्क स्थिति के द्वारा। उस स्थिति का जो अनुभव होता है, वह अनुभव ही हमारे शास्त्रों का निचोड़ है।

धर्मशास्त्र कहते हैं कि आत्मा में अनन्त सुख है, विषयातीत सुख है, अबाध सुख है। अनन्त सुख वह होता है जिसका कभी अन्त नहीं होता। अबाध सुख वह होता है जिसमें कोई बाधा नहीं होती, विघ्न नहीं होता। यह नहीं होता कि इस क्षण में तो सुख है और दूसरे क्षण में दुःख आ गया। कोई बाधा नहीं आती। वह अक्षय है, कभी क्षीण नहीं होता। वह सुख विषयातीत है। वह विषयों से प्राप्त नहीं होता। आज हम विषयातीत सुख की कल्पना भी नहीं कर सकते। सामने विषय नहीं हैं, विषयों का उपभोग नहीं है, फिर कैसा सुख ? शब्द सुनने को नहीं मिल रहे हैं तो फिर सुख कैसे होगा ? रूप देखने को नहीं है, फिर सुख कैसे होगा ? आंखों की तृप्ति कैसे होगी ? सूंघने को बढ़िया गंध नहीं है, फिर घ्राण का सुख क्या होगा ? खाने को अच्छा रस प्राप्त नहीं है, फिर जिह्वा का सुख क्या होगा ? कैसे होगी रसना की तृप्ति ? सुकोमल स्पर्श के अभाव में सुख की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? हमारी कल्पना इन इन्द्रिय-जनित विषय-सुखों को छोड़कर अन्यत्र जाना ही नहीं चाहती। हम मान भी नहीं सकते कि विषयातीत सुख भी होता है। विषयातीत सुख होता है, यह सच है। उसका इन्द्रियों के विषय से कोई संबंध नहीं है। वह सुख विषय से उत्पन्न नहीं होता। विषय उसे उत्पन्न नहीं करते। हम ऐसे सुख के बारे में सोच ही नहीं सकते। हम यह मान लेते हैं कि जिन्होंने विषयातीत सुख की बात कही है, उन्होंने अतिरंजन किया है, अतिशयोक्तिपूर्ण बात कही है, अनर्गल बात कही है। यह हमारी कठिनाई है। हम ऐसा सोचते हैं, यह सोचना हमारा गलत नहीं है क्योंकि हम इन्द्रियों के स्तर का जीवन जी रहे हैं, उसी स्तर पर सोच रहे हैं, मन के स्तर पर सोच रहे हैं। मन के स्तर पर सोचने वाले इससे अधिक और क्या सोच सकते हैं ? हमारा क्या दोष है ? सोचने का जो स्तर है, चिंतन का जो स्तर है, उसमें यही सोचा जा सकता है, और यही सोचना वास्तविक हो सकता है उस स्तर में। किन्तु जहां हम चेतना की शुद्ध अनुभूति के क्षण में जाते हैं, निर्विचारता की शुद्ध अनुभूति में जाते हैं, उन क्षणों में जो सहज आनन्द स्फूर्त होता है, जो सुख का अनुभव होता है, वह है सहज सुख, अबाध सुख। उसकी झांकी मिलती है तब अनुभव होता है कि

डाल रहा है। इतनी जागरूकता से हम देखें और कोरे ज्ञान की स्थिति का अनुभव करें तो आज भी हमारे लिए कुछ भी असभव नहीं है। जिनको हम असभव मान बैठे है और ऐसी भाषा में मान बैठे हैं कि अब कलिकाल है, कलियुग है, पाचवा आरा है, वह प्राप्त नहीं हो सकता, मोक्ष नहीं मिल सकता, केवल नहीं हो सकता, आदि-आदि। इस प्रकार की मान्यता ने मन मे निराशा, कुठा भर दी है और आगे बढने वाले हमारे चरण पीछे की ओर पड रहे हैं। उनमे बढने की आतुरता ही नष्ट हो गयी है क्योंकि जब हम मान लेते हैं कि अमुक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती, फिर उसके लिए प्रयत्न ही कौन करेगा? क्यो करेगा? इस धारणा को हम निकाल दें कि अमुक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता, यह सोचना हमारे अधिकार-क्षेत्र मे नहीं है। हमारा अधिकार है चलना, चलते रहना और चरण को आगे से आगे बढाते रहना। चरैवेति, चरैवेति—यह है हमारा कर्तव्य। हमारा गति करने का अधिकार है, उस दिशा मे बढने का अधिकार है।

हम निर्विचार चेतना की स्थिति मे बढ़ने के लिए अपने कदम उठाएं। जो होना होगा, वह अवश्य होगा। जो उपलब्ध होना है वह हमें प्राप्त हो जाएगा। जो नहीं होना होगा, वह नहीं ही होगा। जो नहीं मिलना है, वह नहीं मिलेगा। पहले ही चिंता का भार हम क्यों ढोयें? पहले ही चिंता के नीचे हम क्यो दबें?

जिस व्यक्ति ने शुद्ध चेतना की स्थिति का, शुद्ध उपयोग की स्थिति का इतना दृढ़ अभ्यास कर लिया, वह निश्चित ही उस स्थिति में पहुच जाएगा, जिस स्थिति मे पहुचने पर मोक्ष है या नहीं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा की स्थिति मे सुख है या नहीं—ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाएंगे। समाहित हो जाएंगे।

है। आकर्षण की दिशा का परिवर्तन ही व्रत है। हमारा आकर्षण बाहर की ओर जाता है इन्द्रियों के माध्यम से। एक है हमारी मूल चेतना। उस चेतना पर एक वलय है कषाय का। कषाय के वलय के बाद, एक है प्रवृत्ति का वलय। कषाय-आत्मा और योग-आत्मा—ये दोनों द्रव्य-आत्मा से जुड़ी हुई हैं। मूल चेतना, कषाय का वलय और योग का वलय, प्रवृत्ति का वलय। हमारे ज्ञान से जो रश्मियां निकलती हैं, वे जब कषाय से मिश्रित होती हैं तब अपने ज्ञानरूप को छोड़ देती हैं। वे संवेदन बन जाती हैं। ज्ञान संवेदन बन जाता है। जब तक ज्ञानधारा में कषाय का मिश्रण नहीं होता तब तक ज्ञान ज्ञान बना रहता है। कोरा ज्ञान। जैसे ही कषाय का मिश्रण हुआ वह संवेदन बन जाता है। वह कोरा ज्ञान नहीं रहता। संवेदन आकर्षण पैदा करता है। राग का आकर्षण पैदा करता है। द्वेष का आकर्षण पैदा करता है। सारे आकर्षण संवेदन के कारण होते हैं। विषयों के प्रति जो आकर्षण होता है, उसका मूल कारण संवेदन है। खाना अच्छा लगता है क्योंकि जीभ का अपना एक संवेदन है। सूंघना प्रिय लगता है, सुगंध प्रिय लगता है, क्योंकि नाक का अपना एक संवेदन है। उसके प्रति मन जाता है। किसी ने गाली दी तो गाली देने के प्रति आकर्षण हो जाता है क्योंकि हम ज्ञान में नहीं जीते, संवेदन में जीते हैं। संवेदन का जीवन प्रतिक्रिया का जीवन है। ज्ञान में आदमी क्रिया करता है। संवेदन में प्रतिक्रिया होती है। ज्ञान स्वतंत्र है, संवेदन परतंत्र। ज्ञान में आदमी स्वतंत्र ढंग से क्रिया करता है, संवेदन में स्वयं कोई क्रिया नहीं होती, प्रतिक्रिया होती है। सामने वाला जैसा करता है, वैसा ही कर देता है। सामने वाला गाली देता है तो वह भी गाली देता है। कोई पत्थर मारता है तो वह भी पत्थर मारता है। कोई प्रशंसा करता है तो वह भी प्रशंसा करता है। अर्थात् क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रतिबिम्ब होता है। स्वतंत्र कुछ भी नहीं होता, आदमी कर भी नहीं सकता। स्वतंत्र आदमी, स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र मनन और स्वतंत्र क्रिया—ये सब ज्ञान की अवस्था में ही हो सकते हैं, संवेदन की अवस्था में ये नहीं हो सकते। थाली में भोजन आया। यदि रुचिकर और मनोज्ञ है तो प्रशंसा कर दी, अप्रिय और अरुचिकर है तो गालियां दीं, बुरा-भला कहा। यह सारा प्रतिक्रिया का जीवन है। 'जैसे के प्रति तैसा,' 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'—ये सारे संवेदन के क्षेत्र में चलने वाले सिद्धान्त हैं, प्रतिक्रिया के क्षेत्र में पनपने वाले सिद्धान्त हैं। 'शठे शाठ्यं' का अर्थ ही है प्रतिक्रिया, क्रिया नहीं।

संवेदन के जगत में जीने वाला मनुष्य क्रिया का जीवन नहीं जी सकता। वह क्रिया कर ही नहीं सकता। जो कुछ करता है, वह प्रतिक्रिया होती है। आप अपने कार्यों को देखें। शत प्रतिशत कार्य प्रतिक्रिया से प्रेरित होंगे। उस आदमी ने मेरा उपकार किया था, मैं भी उसका उपकार करूं। उसने मेरी बुराई-निन्दा की थी,

स्वर में बोलीं—'प्रभो ! यह क्या किया आपने ? आपने असमय में योग क्यों धारण किया ? आपने हमें क्यों छोड़ दिया ? आप एक बार घर चलें, हमारे साथ रहें। हमारा अनुनय मानें। हमें कृतार्थ करें।' महावीर की ध्यान-धारा अविचलित रही। कोई परिवर्तन नहीं आया। उनमें अनुग्रह-निग्रह जैसा कुछ शेष नहीं रह गया था। यह क्यों हुआ ? इसका मूल कारण है—महावीर के आकर्षण की दिशा बदल चुकी थी। कभी क्षणभर पहले वे एक चक्रवर्ती जैसे वैभवशाली थे और एक क्षण के बाद ही वे सब कुछ छोड़कर, अकिंचन बन घर से निकल पड़ते हैं। यह कैसे संभव होता है ? यह संभव होता है आकर्षण की दिशा के परिवर्तन से।

दिशा का बदल जाना ही व्रत है, प्रव्रज्या है, सन्यास है।

अहिंसा क्रिया है। हिंसा प्रतिक्रिया है। सत्य क्रिया है। असत्य प्रतिक्रिया है। अकिंचनता क्रिया है। संग्रह प्रतिक्रिया है। जिसमें आकर्षण की दिशा का परिवर्तन आ जाता है उसमें अहिंसा, सत्य, असंग्रह आदि सहज हो जाते हैं, स्वभाव बन जाते हैं। तब फिर वह हिंसा नहीं कर सकता, असत्य नहीं बोल सकता, चोरी नहीं कर सकता, संग्रह नहीं कर सकता, कहीं आसक्त नहीं हो सकता। यह दिशा के परिवर्तन का प्रतिफलन है। उसकी यात्रा आत्मा की दिशा में होने लग जाती है। चेतना आत्मा की ओर प्रवाहित होने लग जाती है। यह व्रत है, बहुत बड़ी समाधि है।

गौतम ने महावीर से पूछा—भंते, कुछ लोग सोते हैं, कुछ लोग जागते हैं और कुछ लोग सोते-जागते हैं। क्या यह सही है ?

महावीर ने कहा—गौतम ! यह सही है। जिनका आकर्षण विषयों के प्रति है, जिनकी चेतना बाहर की ओर दौड़ रही है, वे सोते हैं, सोये हुए हैं। जिनकी चेतना निरंतर आत्मा की ओर प्रवाहित हो रही है, जिनका आकर्षण टूट चुका है, वे जागते हैं, जागे हुए हैं। जिनकी चेतना कभी बाहर की ओर दौड़ती है और कभी रुक जाती है, कुछ भीतर की ओर प्रवाहित है, वे सोते-जागते हैं, वे सोये हुए भी हैं और जागे हुए भी हैं।

व्रत जागरण है। चेतना की जागृत अवस्था है व्रत। यह समाधि है। यह समाधि इसलिए है कि इस स्थिति में पहुंचने वालों का समाधान हो जाता है।

कषाय के घेरे की चार दीवारें हैं—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन। पहली दीवार है—अनन्तानुबंधी। जो इस पर चोट करता है, प्रहार करता है, उसका दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। उसका दर्शन समीचीन हो जाता है। वह सत्य को पाने का दृष्टिकोण बना लेता है। जो व्यक्ति दूसरी दीवार—अप्रत्याख्यानी कषाय पर चोट करता है, उसे तोड़ता है, वह व्रती बन सकता है, व्रत की भूमिका में प्रवेश कर सकता है। जो तीसरी दीवार—प्रत्याख्यानी कषाय

अरे, यह क्या ? कहां हैं रत्न ? कहां हैं हीरे ? ये तो काच के टुकड़े हैं। सारे के सारे काच हैं। क्या हो गया ? क्या हीरे काच मे बदल गए या मूलत: काच ही के टुकड़े थे ?पोटली को गली मे फेंक दिया। चाचा ने कहा—'अरे, यह क्या किया तुमने ? मां क्या कहेगी ?' उसने कहा—'चाचाजी ! मैं समझ गया। ये काच के टुकड़े थे, हीरे नही थे, रत्न नहीं थे।'

धारणा बदल गई। असली परीक्षण हो गया। आकर्षण बदल गया। सही स्थिति सामने आ गई।

परिवर्तन क्यों आता है ? त्यागी बनने वाला, महाव्रती बनने वाला मरकर दूसरा जन्म नही लेता। उसमें केवल चेतना की प्रवाह की दिशा बदलती है, आकर्षण बदलता है। जो पहले अच्छा लगता था, जो कषाय-चेतना के प्रभाव से मनोज्ञ लगता था, आज दिशा-परिवर्तन के कारण बिलकुल उल्टा लगने लगता है।

सम्राट् अशोक के मन मे एक भावना जागी कि मैं सारे ससार को जीतू और सब पर अपना शासन स्थापित करू। यह भावना तीव्र थी एक दिन। भावना बदली, आकर्षण बदला और उसे लगा—अरे, युद्ध करना पागलपन है। नर-सहार करना अधमता है। उसका आकर्षण बदल गया। उसने शिलालेखों मे उत्कीर्ण करवाया—किसी के साथ मत लड़ो। कलह मत करो। युद्ध मत करो। कलिंग-युद्ध मे लाखों का नरसहार करने वाला सम्राट् प्रेम से रहने की बात करता है, यह कैसे सभव होता है ! यह सम्भव होता है दिशा के परिवर्तन के द्वारा। जो व्यक्ति अपनी चेतना को कषाय-चेतना से सयुक्त नही होने देता, वह अपनी चेतना के प्रवाह को मोड़ सकता है, बदल सकता है। उसका आकर्षण मिट जाता है। आकर्षण बदलते ही मूल्याकन की दृष्टि मे परिवर्तन आ जाता है। पुराने मूल्य समाप्त हो जाते हैं। नये मूल्य स्थापित हो जाते हैं। जो चीजें अर्थवान् लगती थी, वे अर्थहीन, सारहीन प्रतीत होने लगती हैं। इस मनोभूमिका, चेतना की दिशा का नाम है व्रत। व्रत एक है। उपयोगिता की दृष्टि से उसके पाच, बारह या अनेक विभाग हो सकते हैं। व्रत कहें, विरति कहें या चेतना की दिशा का परिवर्तन—सब एक है, शब्द भिन्न है।

चक्र और मर्मस्थान मे क्या अन्तर है ? चक्रों की आकृतियां स्थूल शरीर में है या सूक्ष्म शरीर मे ?

पांचवां चक्र नही है। पांचवां स्थान है प्राण और चैतन्य का अंतिम सिरा कि जहां से चैतन्य प्रवाहित होता है। दो शब्द हैं—मर्मस्थान और चक्र। जहां ज्ञान-तंतु अधिक एकत्रित होते हैं, सघन होते है, वे मर्मस्थान हैं। कुछेक स्थानों पर ज्ञान-तंतु बहुत उलझे हुए होते हैं, वे चक्र कहलाते हैं। हमारे शरीर में सात सौ से अधिक मर्मस्थान हैं। अभी जापान में इन पर बहुत अनुसंधान हो रहा है। चीन में इन मर्मस्थानो, पॉइन्टस् के आधार पर जो एक्युप्रेशर की चिकित्सा-पद्धति चली थी, वह आज जापान मे विकसित हो रही है। रूस और अमेरिका के वैज्ञानिक भी इस ओर प्रयत्नशील हैं। शरीर में कहीं दर्द होता है, तो वे भिन्न भिन्न स्थानों को, सूई के चुभन के द्वारा, सक्रिय करते है, और दर्द क्षीण हो जाता है, मिट जाता है।

भावना शरीर मे चक्र है; परन्तु वहां चक्र का आकार नहीं है। वहां तो वे शक्ति के रूप मे, भावना के रूप में है और उनका जो आकार बनता है वह बनता है स्थूल शरीर में। जैसे दर्पण के सामने कोई वस्तु आती है तो उसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। किसी में एक-इन्द्रिय ज्ञान की क्षमता है तो उसकी रचना एक इन्द्रिय के अनुसार होगी। जिसमें आंख की क्षमता है, उसमें आंख का आकार बनेगा। आंख के ज्ञान की क्षमता कर्म-शरीर में होगी, स्थूल शरीर में नहीं होगी। किन्तु आंख से देखने का जो गोलक बनेगा, साधन बनेगा, वह व्यक्त होगा स्थूल शरीर में। वैसे ही चक्रों की जो क्षमता है, वह तो है सूक्ष्म शरीर में किन्तु उनकी आकृतियां बनती हैं स्थूल शरीर में। इसीलिए शरीर विज्ञान (एनोटॉमी) के अनुसार यह पता नही लग रहा है कि चक्र है कहां ? क्योंकि मूल शक्ति तो सूक्ष्म शरीर में है और अभिव्यक्ति के स्थान बन रहे स्थूल शरीर में। दोनों में यह अन्तर है।

कोना दीख रहा था। दूसरी ओर से रेत हटी। दूसरा कोना दिखाई दिया। उसे लगा दूसरी चीज पड़ी है। अब उसे दो वस्तुएं दीख रही थीं। तीसरे कोने की रेत हटी। तीसरी वस्तु बन गयी। चौथे कोने की रेत हटी। चौथी वस्तु बन गयी। अब उस व्यक्ति को अलग-अलग चार वस्तुएं दीख रही थीं। जोर से हवा चली। सारी रेत उड़ गयी। चौकी दृश्य हो गयी। अब चार वस्तुएं मिट गयीं, एक वस्तु रह गयी। चौकी रह गयी। इन्द्रियों का विभाजन भी ऐसा ही है। एक-एक कोना, एक-एक वस्तु दिखाई दे रही है। चेतना की एक अखंड धारा प्रवहमान है। वह खंडित नहीं है। उसकी अखंडता को हमने देख लिया तो फिर न पांच इन्द्रियां हैं, न चार हैं, न तीन हैं, न दो हैं, एक ही है और वह है अखंड धारा चेतना की। वहां न मन है, न इन्द्रियां हैं, बस केवल चेतना है। ये विभाग उपयोगिता के आधार पर हुए हैं। ये वास्तविक नहीं हैं।

दो हैं—व्रत और महाव्रत। किस अंश के आकर्षण को हम व्रत मानें और किस अंश के आकर्षण को हम महाव्रत मानें? आकर्षण को माप पाना कठिन होता है।

महाव्रत की सीमा हमारी विकल्पना है, योजना है, व्यवस्था है। भगवान् महावीर ने कहा—

'संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमोत्तरा'—कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थों का संयम श्रेष्ठ होता है।

'गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमोत्तरा'—संयमी साधु का संयम गृहस्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।

भगवान् ने कहा—कुछ गृहस्थों का संयम अनुत्तर होता है, श्रेष्ठ होता है। यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है कि जो वास्तव में साधु है, जिसकी चेतना पूर्ण रूप से साधुत्व में लीन है, उसी में रमण कर रही है, वह सभी गृहस्थों की अपेक्षा संयम में श्रेष्ठ होता है। यह एक सीमा-रेखा है। आखिर कहीं-न-कहीं सीमा-रेखा खींचनी ही पड़ती है। व्यवहार की सीमा-रेखा यह है—जो तीन योग और तीन करण (मन, वचन और काया से, करना, कराना और अनुमोदन करना) से असत् प्रवृत्ति का परित्याग करता है वह है महाव्रती, वह है मुनि। जो इसमें अपवाद रखता है, वह होता है श्रावक। श्रावकों के अनेक स्तर हैं। उनमें एक स्तर है—प्रतिमाधारी श्रावक का। श्रावक की प्रतिमाएं (विशेष त्याग) ग्यारह हैं। जो इनका पालन करता है, वह होता है प्रतिमाधारी श्रावक। उसे जैन आगमों में 'श्रमणभूत' कहा है। इसका अर्थ है—मुनि-तुल्य। साधु-तुल्य। वह साधु नहीं है, पर उसके तुल्य है, समान है। इतना-सा अन्तर है। उस श्रावक ने भी घर छोड़ दिया, आहार भी शुद्ध करता है, और अनेक धर्मों का पालन भी करता है, पर है साधु-तुल्य, साधु नहीं। क्योंकि 'पेज्जबंधण अवोच्छिन्ने'—अभी तक उसका प्रेम

करते हैं। उन्होंने सन्यासी का जीवन स्वीकार किया। उसने उपवास किए, निर्जल उपवास किए। प्राणायाम, ध्यान, आसन किए। ये सभी साधनाएं कीं। आन्तरिक शुद्धि की ओर उसे एक ऐसा झटका लगा कि चेतना में एकदम परिवर्तन आ गया।

एक बहन है रामामण्डी की। उसका नाम है कलावती। वह पढ़ी-लिखी नहीं है। अक्षरज्ञान भी उसे नहीं होगा। वह तपस्या करती है। लम्बी तपस्याएं करती है। ध्यान साथ-साथ चलता है। वह उस बिन्दु पर पहुंच गयी, जहां पहुंचने पर परिवर्तन अवश्यभावी हो जाता है। उसमें परिवर्तन आया। उसमें अनेक विलक्षणताएं पैदा हो गयीं। पढ़ी-लिखी नहीं है। फिर भी विलक्षणताओं से भरी है। उसे ऐसा आभास होता है कि सामने कुछ लिखा हुआ है और वह उस लिपि को पढ़ रही है, समझ रही है। चमत्कार घटित हो रहे हैं। आप इस बात को कभी न पकड़ें कि उपवास कर रहे हैं, उसका लाभ होगा या नहीं? आप यह देखें कि वह ठीक बिन्दु पर चोट कर रहा है या नहीं? ठीक बिन्दु पर पहुंचा है या नहीं? उस बिन्दु पर किसी भी रास्ते से पहुंचा जा सकता है।

अहं क्या है?

मैं धनवान् हूं। मैं बुद्धिमान् हूं। मैं पंडित हूं। मैं बड़ा हूं। मैं स्वामी हूं, यह मेरा नौकर है—यह सारा अहं है। जिसके साथ 'मैं' लगता है, विशेषण लगता है, वह सारा अहं है। सब विशेषणों को हटा लो। मैं केवल चैतन्यमय पवित्र सत्ता हूं, पवित्र हूं, सर्वोच्च हूं। यह शुद्ध भावना है। अहं से शून्य भावना है। यह हीन भावना नहीं है। हीन भावना तब आती है जब हम आत्मा को भुला देते हैं। आत्मा की सत्ता के पीछे जहां इतना प्रकाश है वहां न हीन भावना है और न अहं भावना।

क्या समताल श्वास में दीर्घश्वास नहीं हो सकता या दीर्घश्वास में समताल श्वास नहीं हो सकता?

दोनों साथ-साथ हो सकते हैं। यह तो केवल बताने के लिए दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया है। श्वास दीर्घ भी हो और समताल भी।

मस्तिष्क को शक्तिशाली कैसे बनाया जा सकता है?

मस्तिष्क में एक भूरे रंग का पदार्थ है। वही हमारी सारी शक्ति को संजो रहा है। शरीरशास्त्री भी यही कहते हैं कि मस्तिष्क को शक्तिशाली बनाना हो तो श्वेत रंग का, भूरे रंग का चिन्तन करो, ध्यान करो।

ध्यान करने का समय कौन-सा अच्छा है?

प्रातःकाल और सायंकाल—ये दो समय अच्छे हैं। बीच के समय में भी कर सकते हैं।

निर्विकार स्थिति में जाने के बाद पुनः लौटना नहीं होता है? क्या वह

यहाँ बैठा हुआ व्यक्ति उसके मनोभावों को जान लेता है। यह टेलीपैथी है।

'आज अमुक प्राप्त नही होता'—यह जो बात कही गई है, वह एक चरम-बिंदु को लेकर कही गयी है। इसका विकास हो नही हो सकता, ऐसा नहीं कहा गया है।

किसी ने कहा—'अमेरिका नही जा सकते'। इसका तात्पर्य यह है कि पैदल चलकर या थल मार्ग से वहा नही पहुचा जा सकता। कहने वाले के मन मे यही अभिप्राय रहा होगा। यदि इस कथन के आधार पर यह मान लें कि अमेरिका पहुचा ही नही जा सकता, यह भ्रान्ति होगी। उसके कहने का अभिप्राय था कि पैदल नहीं जा सकते, बैलगाड़ी से नही जा सकते आदि। किन्तु वायुयान से नहीं जा सकते या जहाज से नही जा सकते—यह उसके कथन का आशय कभी नहीं हो सकता। तो हर बात के निषेध मे भी अपेक्षा जुड़ी रहती है। वह निरपेक्ष कथन नहीं होता। यह ठीक है, पूर्ण ज्ञान, निरावरण ज्ञान तक जब पहुचना होगा, तब होगा, जिस स्थिति मे पहुचना होगा, तब होगा। परन्तु मार्ग को खुला रहने दो। बन्द मत करो। यह मार्ग कहा समाप्त होता है—यह आगे की बात है। जितना तुम चल सको, चलते रहो। मार्ग मिलता जायेगा। मंजिल निकट आती रहेगी। पहले से ही यदि मार्ग बन्द कर दिया तो फिर मार्ग पर चलने के लिए कौन तत्पर होगा ? वह सोचेगा, मार्ग बन्द है। उस तक पहुचने से पूर्व ही वह लौट आएगा पूर्व बिन्दु पर।

मोक्ष तो मरने के बाद होता है। आप यह कैसे कह सकते हैं कि जीवित अवस्था मे भी मोक्ष हो सकता है ?

उमास्वाति ने लिखा है—इहैव मोक्षः सुविहितानां—जो पवित्र आचरण करते है, उनके लिए अभी, इसी क्षण, यही मोक्ष है। हमें समझना है कि मोक्ष क्या है ? बहुत सरल परिभाषा है। जब हम आत्मा की अनुभूति में होते हैं, शुद्ध चेतना की अनुभूति मे होते हैं, अनासक्ति का अनुभव करते हैं, निर्विकार और असंग का अनुभव करते है, वह हमारा मोक्ष है। ये सब मोक्ष के अनुभव हैं। हम प्रत्येक बात को अपेक्षा से समझना होगा। घड़ा बन गया। हम कब कहते कि घड़ा बन गया ? आवे में पककर जब घड़ा बाहर निकलता है तब हम कह देते हैं—घड़ा बन गया। तो जब क्या कुम्हार मिट्टी लाया था, तब घड़ा नही बना था ? कुम्हार ने जब मिट्टी को चाक पर चढ़ाया था तब घड़ा नहीं बना था ? भगवान् महावीर का सिद्धांत है—'क्रियमाणे कृते'। 'क्रियमाण कृतम्'। जिस क्षण मे कुम्हार ने मन मे घड़ा बनाने का संकल्प किया था, उसी क्षण घड़ा बन गया था। कुम्हार के संकल्प से घड़ा बन जाता है और हमारा मोक्ष होता है हमारे मरने के बाद, यह कैसा न्याय ? यदि धर्म करने के क्षण मे हम मोक्ष की अनुभूति नहीं [illegible]
निश्चित है

आपने कहा था कि देखते रहो। देखते रहो। मैंने उस पर चिन्तन किया। पर सूक्ष्म स्पदनों को देख नहीं पाया। क्यों ?

चिन्तन तो किया है पर देखने का अभ्यास नहीं किया है। अगर देख लेते और देखने के बाद यह प्रश्न पूछते तो इसका उत्तर मुझे नहीं देना पड़ता, आप स्वयं उसके उत्तर हो जाते। देखते-देखते जब आप पहली बार भीत को देखेंगे, आपको एक स्थूल भीत-सी दिखाई देगी। मेरा विश्वास है कि आप दस-बीस मिनिट निरन्तर देखते चले जाएं तो संभव है आपको फिर स्पदन दीखने लग जाएं। लगेगा कि भीत में स्पदन हो रहा है, भीत के परमाणु स्पंदित हो रहे हैं।

अनिमेष दृष्टि को स्पष्ट करें। देखने में क्या-क्या आवश्यक होता है ?

अनिमेष दृष्टि। देखने में स्थिरता तो अवश्य ही होनी चाहिए। अनिमेष का अर्थ यह नहीं है कि बीच में कोई पलक झपकाए ही नहीं। पलक झपका ली तो भी कोई बात नहीं है। अनिमेष का अर्थ यह ठीक है कि लम्बे समय तक देखना, स्थिरता से देखना। भगवान् महावीर के लिए कहा गया है कि वे भीत को लम्बे समय तक देखते थे। 'तिरिय भित्ति पेहाए'—यह अजीब-सा लगता है। भीत को क्या देखना? किन्तु महावीर भीत को देखते थे। मैंने पहले ही कहा था कि जिस वस्तु को हम देखना प्रारंभ करेंगे, पहले उसका स्थूल रूप हमारे सामने आयेगा। किन्तु देखने की अवधि जैसे-जैसे लम्बी होती चली जाएगी, स्थूल रूप समाप्त होता चला जाएगा और उसका भीतरी रूप प्रकट होने लगेगा। इसके साथ तीन बातें आवश्यक हैं—लम्बा समय, स्थिर अध्यवसाय और दृढ़ लक्ष्य।

वस्तु-दर्शन का प्रयोजन क्या है ?

वस्तु-दर्शन से सत्य-दर्शन की बात फलित होती है। दुतरफा लाभ होता है। एक तो हमारे देखने की क्षमता विकसित होती है और दूसरे में उस वस्तु के सूक्ष्म पर्याय प्रकट होने लगते हैं। जैसे वस्तु-दर्शन में हम उस क्षमता का उपयोग करते हैं, वैसे ही यदि आत्म-दर्शन या सत्य-दर्शन के लिए करें तो आत्म-दर्शन उद्भासित हो जाता है। प्रकट हो जाता है।

देखने की शक्ति को विकसित करना क्यों आवश्यक है ? वह आत्म-दर्शन में कैसे सहायक होगी ?

हमने देखने की क्षमता प्राप्त कर ली। वह गहरी हो गयी, विकसित हो गयी। अब हम उसका उपयोग किस दिशा में करते हैं, यह हम पर निर्भर है। अब हम वस्तु का जानना चाहते हैं तो उस शक्ति को वस्तु को जानने में नियोजित करेंगे। मात्र हमारा विषय बदला, क्षमता वही रही। क्षमता एक ही है। विषय बदल जाता है। हमें आकाश को जानना है, धर्म को जानना है या किसी भी वस्तु को जानना है, उसके अन्तस्तल को देखना है तो हम उस पर ध्यान केंद्रित करेंगे। वह हमारा विषय होगा। धीरे-धीरे वस्तु जान ली जाएगी। यदि क्षमता

हमने मुक्ति को ऐसे घेरे में बांध दिया है कि मानो मुक्ति कहीं अन्यत्र है। मुक्ति हमारे साथ ही साथ चल रही है। हमसे मुक्ति अलग नहीं है। जितना अप्रमाद है वह सारी की सारी मुक्ति है। यही मुक्ति-स्थल है।

पर्याप्ति क्या है ? प्राण और पर्याप्ति का संगम कैसे हो सकता है ?

कोई आत्मा एक जन्म से च्युत होकर दूसरे जन्म में जाती है, तो उस समय उसके पास स्थूल शरीर नहीं होता, सूक्ष्म शरीर होता है। वह सूक्ष्म शरीर जन्म-ग्रहण करने के पहले क्षण में ही बहुत बड़ी पुद्गल राशि एकत्रित करता है। इसे आहार-पर्याप्ति कहते हैं। उस पुद्गल राशि से सारी पर्याप्तियों का निर्माण होता है। शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति—इन सबका निर्माण होता है। अब जैसे ही इन शक्तियों का निर्माण हो जाता है, तब फिर तैजस और कार्मण का इनके साथ तालमेल होता है। जब तालमेल बैठता है तब तैजस की शक्ति, विद्युत् की शक्ति—ये सारी शक्तियां केन्द्रों में प्रवेश करना शुरू करती हैं। तैजस शरीर प्राण का उत्पादक है। हमारी जो विद्युत् है वह तैजस शरीर से ही उत्पन्न होती है। यह धारा प्रवाहित होती है पर्याप्ति के केन्द्रों में और पर्याप्ति के केन्द्रों से हमारे स्थूल शरीर में आती है। शरीरशास्त्री तो इस स्थिति तक पहुंच नहीं पाए हैं किन्तु परा-मनोवैज्ञानिक छह-सात सूक्ष्म शरीर मानते हैं। इनमें अनेक कोष हैं—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञान कोष, आनन्द कोष आदि-आदि। इनकी पर्याप्ति से तुलना हो सकती है।

ऐसा लगता है कि साधना में बौद्धिकता सबसे बड़ी बाधा बनती है। क्या यह ठीक है ? लोकोत्तर योग को और अधिक स्पष्ट करें।

बौद्धिकता नहीं, आपका तर्क उसमें बाधक बन रहा है। अगर बौद्धिकता नहीं होती तो शायद प्रयोग में आप आगे नहीं बढ़ सकते। चिन्तनपूर्वक आप शिविर में आए हैं, जीवन के प्रयोग किए हैं, योग के ग्रन्थों को पढ़ा है और अभी पढ़ रहे हैं। पढ़ने से ही उत्तरोत्तर आपका विकास हुआ और आपने यह अनुभव किया कि जीवन में ऐसे प्रयोग करने चाहिए। यह सब आपने बौद्धिकता के उच्च धरातल पर ही किया। बौद्धिकता और तर्क एक नहीं है। बौद्धिकता है हमारी वस्तु को पकड़ने की क्षमता। उससे हम लाभ-अलाभ को समझ लेते हैं, पदार्थ को समझते हैं, उसके परिणामों को समझते हैं। यह है हमारी बौद्धिकता। बाधा आती है तर्क के द्वारा। बौद्धिकता और तर्क एक नहीं है। यद्यपि बौद्धिकता का परिवार तर्क है किन्तु बौद्धिकता उसमें बहुत बड़ी चीज है। तर्क हमारे विश्वास को केन्द्रित नहीं करता बल्कि उसको विभक्त कर देता है। भला सकल्प मात्र से हमारा आन्तरिक परिवर्तन कैसे हो सकता है ? यह जो प्रश्न उभार देते हैं, वहां विश्वास सघन नहीं हो सकता। किसी भी साधना के लिए संकल्प को पकड़ना बहुत जरूरी है। तब

यह सही है कि शिविर मे जो लोग आज रह रहे हैं, उन्हें वापस अपने-अपने घरो को जाना है। जाएंगे, यह स्वाभाविक बात है। अभी इतनी तैयारी नही है कि शिविर को एक स्थायी आवास के रूप मे बदल दें और उपासक के समर्पित स्थिति का अनुभव दूसरो को भी करा दें। ऐसे बहुत कम लोग तैयार हुए है। इस स्थिति मे घर जाने के पश्चात् सबके साथ व्यवहार का प्रश्न है, काम का प्रश्न है और जीवन के रहन-सहन के ढंग का प्रश्न है। ये सारे प्रश्न सामने हैं। मैं यह सोचता हू कि साधना-सत्र मे आने का मतलब तात्कालिक आनन्द की उपलब्धि नहीं है। आज आपने प्रयोग किया और बहुत आनन्द आया। यह कोई पर्याप्त बात नही है। यह तो उसका एक क्रम है, यह तो उसका एक क्षण है। किन्तु शिविर में आने का मतलब यह है कि यहा जो कुछ भी आप प्राप्त करें, उसे आगे क्रियान्वित करें। जो पाठ आपने पढ़े हैं, उन्हें अपने जीवन मे प्रयुक्त करे। अभी शिविर चल रहा है, करने का समय तो आगे है, जब आप शिविर से मुक्त होकर अपने परिवार में जाएंगे। हम शिविर मे बौद्धिक चर्चाएं करते हैं। और वे बहुत आवश्यक है। क्योंकि जब तक हमारा ज्ञान विकसित नहीं होता, हमारी धारणाएं स्पष्ट नहीं होतीं, हमारी मान्यताओं मे बल नही होता तब तक हम किसी साधना की कल्पना ही नहीं कर सकते। सबसे पहले हमारे लिए ज्ञान जरूरी है। जितने भी अच्छे-अच्छे साधक है, वे इस बात पर बहुत बल देते हैं कि हमारा बौद्धिक धरातल बहुत ऊंचा होना चाहिए। और साधक यह अनुभव भी करते हैं कि बौद्धिक धरातल ऊंचा होने के बाद फिर आन्तरिक ज्ञान का विकास शुरू हो जाता है। यह बहुत जरूरी है और इसीलिए उपासक के सामने एक लम्बा अध्ययन का क्रम रखा जाता है। साधना का क्रम और वर्तमान की दुनिया में जिस स्तर पर बौद्धिकता का विकास हो रहा है, उसका अध्ययन हमारे लिए बहुत जरूरी है। इसके बिना हमारा धरातल बहुत नीचा रहता है और फिर साधना की बात कैसे की जा सकती है? इने-गिने अपवादिक उदाहरणों को सामने रखकर सामान्य नियम नही बन सकता। हमेशा नियम बनाते समय अनुपात का ध्यान रखना होता है; अन्यथा हम उलझ जाते हैं और न इधर के रहते है, न उधर के रहते हैं। अब कोई राम-कृष्ण हो गया है, कोई भिक्षु स्वामी हो गया या दूसरा और कोई हो गया। ये लोग दुनिया मे अपवाद के रूप मे जन्म लेते हैं। भिक्षु स्वामी ने कुछ भी नहीं पढ़ा था, परन्तु कहां पहुंच गए थे! हर आदमी तो भिक्षु स्वामी बनकर जन्म नहीं लेता। वह तो कोई व्यक्ति था, जो पहुंच गया। हर आदमी उसका अनुकरण नहीं कर सकता। हर आदमी को प्रयत्न करना होता है और अपने प्रयत्न मे ज्ञान की उपलब्धि करनी होती है। इसलिए सबसे पहली बात है कि बौद्धिक धरातल उन्नत होना चाहिए और ज्ञान अर्जन करने का भी पूरा प्रयत्न करना चाहिए। जितना ज्ञान विकसित होगा, अगली बातें प्राप्त करने में बहुत सुविधा

पहुंचते हैं तो एक बहुत बड़ा काम होता है। साधना का जो तीसरा परिणाम है, वह है व्यवहार की शुद्धि। व्यवहार हमारा इतना ऋजु, कोमल और मैत्रीपूर्ण हो कि साधक के मन में प्रत्यक्ष विरोध करने वाले के प्रति भी अनिष्ट का भाव, कटुता का भाव नहीं आए। जीवन का इतना बड़ा मूल्य है कि अगर वह स्थिति प्राप्त हो जाए तो मैं साधना की बहुत बड़ी सफलता मानता हूं। मन में जो क्लेश आते हैं, दूसरों के प्रति ईर्ष्या, शत्रुता आदि-आदि भावों के क्लेश आते हैं, ये सारी बातें मिट जाएं तो उनके प्रति आनन्द का सहज द्वार खुल जाता है और सारी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

चौथी बात है—श्रम और सेवा की। शिविर में आने वाले लोगों में पुरुषार्थ और सहयोग का संस्कार न आए तो शिविर का एक कोना बिलकुल अछूता रहेगा। अपने जीवन को श्रमपूर्ण और स्वावलम्बी बनाना, पुरुषार्थी बनाना जैन-चर्या का मूल आधार है।

अगर ये चारों बातें प्राप्त होती हैं तो शिविर के द्वारा, साधना-सत्र के द्वारा, अवश्य ही जीवन का निर्माण होगा। हमारी ऐसी परिकल्पना है कि धर्म का एक व्यावहारिक रूप जनता के सामने आए। परम्परा के अनुसार लोग धर्म कर रहे हैं। परन्तु वर्तमान युग को जिस बात की अपेक्षा है, उसकी पूर्ति कर सके, ऐसा धार्मिक का रूप सामने आना चाहिए। लोग सामायिक आदि भी खूब करते हैं और व्यवहार की गड़बड़ियां भी खूब चलती हैं। यह धर्म के अनुकूल नहीं है। दूसरों के सामने उतनी ही शत्रुता की दृष्टि रहती है। उतने ही दूसरों पर प्रहार चलते हैं। ईर्ष्या और घृणा भी मन में पलती चली जाती है। यह जो दोहरा रूप है, वह आज के बौद्धिक व्यक्ति को मान्य नहीं है, इष्ट नहीं है। वह नहीं चाहता कि धार्मिक का ऐसा रूप बने। ये चार बातें शिविरार्थी में विकसित होनी चाहिए—बौद्धिकता, आध्यात्मिकता, मृदु व्यवहार—निश्छल और मैत्रीपूर्ण व्यवहार तथा सेवा और श्रम। जीवन में इन चारों का ठीक सामंजस्य और सन्तुलन हो तो धर्म का नया आयाम खुल सकता है।

समस्या का वास्तविक समाधान क्या है?

द्वन्द्व की दुनिया में अकेला कोई नहीं हो सकता। न केवल समस्या हो सकती और न केवल समाधान। इस दुनिया में समस्या का उपादान भी है और निमित्त भी है। समाधान का उपादान भी है और निमित्त भी है। हम एक को पकड़कर एकांगी हो जाते हैं। एकांगी होने का अर्थ होता है—समस्या का स्थायित्व। हमारी पहुंच केवल निमित्त तक होती है, तब समस्या उभरकर हमारे सामने आती है और जब हम निमित्त के दरवाजे से प्रविष्ट होकर उपादान तक पहुंचते हैं तब समस्या स्वयं समाधान बन जाती है। अन्तर्मुखी होना ही समाधान है। समस्या के अन्तरंग को जानना, देखना और अनुभव करना अपेक्षित है। समस्या